UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182019
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.092 P23M Acc. No. GH 1344

Author : पारीक सरस्वती

Title : मैथिली शरण

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.092 P23M　　Accession No. GH 1344

Author पारीक सरस्वती

Title मैथिली शरण

This book should be returned on or before the date last marked below.

मैथिलीशरण

सरस्वती पारीक एम. ए.
गोकुलदास गर्ल्स इन्टरमिजिएट कॉलेज
मु रा दा बा द

Checked 1965

© सर्वाधिकार सुरक्षित

Checked 1965

प्रकाशक : सरस्वती पारीक एम. ए.
मुद्रक : जगदीश एम. ए., प्रदीप प्रेस मुरादाबाद
१ ६ ४ ४

क्रम

१ **परिचय** १
कवि
काल
कृतियाँ

२ **रूपान्तरकार** ७
मेघनाद वध (बंगला)
विरहिणी ब्रजांगना ,,
वीरांगना ,,
पलासी का युद्ध ,,
स्वप्नवासवदत्ता (संस्कृत)
रुबाइयात उमर ख़य्याम (फ़ारसी)

३ **धार्मिक - उदारता** १७

४ **जातीय - जीवन की भावना** २३
भारत - भारती
हिन्दू

५ **राष्ट्रीय - कवि** ३०
स्वदेश - संगीत आदि

६ **नाटककार** ४०
तिलोत्तमा
चन्द्रहास
अनघ

७ **मुक्तक - काव्य** ४७
मङ्गल घट
झन्कार

८ **प्रबन्ध - काव्य** ५५

(अ) खण्ड - काव्य

जयद्रथ - वध
पञ्चवटी
रङ्ग में भङ्ग
शकुन्तला
किसान
वक - संहार
वन - वैभव
सैरंध्री
सिद्धराज
नहुष
विकट - भट

(आ) महा - काव्य

साकेत

९ **विविध** ८३

पत्रावली
वैतालिक
शक्ति
गुरुकुल
यशोधरा
द्वापर
अर्जन और विसर्जन
काबा और कर्बला
विश्व - वेदना
कुणाल -गीत

१० **कलाकार** ९८

समर्पण

श्रीमती माजी-महाराज झाली जी
सुश्री जयेन्द्र कुमारी जी अलवर को

जिनके सम्पर्क में मेरे जीवन के
कई वर्ष मधुर स्वप्न के समान व्यतीत हुए
और जिनके व्यवहार में मा की सी
आर्द्र ममता और अगाध
वत्सलता मुझे दिखाई
दी

परिचय

श्री मैथिलीशरण जी गुप्त का जन्म श्रावण शुक्ल द्वितीया चन्द्रवार संवत् १९५३ को चिरगाँव (झाँसी) में हुआ। इनके पिता का नाम सेठ रामचरण जी था। सेठ जी कविता के बड़े प्रेमी थे, और स्वयं भी पद्य रचना करते थे। गुप्त जी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के स्कूल और फिर झाँसी में हुई। परन्तु उनका मन पढ़ने लिखने में नहीं लगा, इसी से पिता ने उन्हें स्कूल से हटा लिया। अपने अध्यवसाय से उन्होंने अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त संस्कृत, बङ्गला और मराठी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। यों अंग्रेज़ी का सामान्य परिचय भी उन्हें है।

गुप्त जी के भाइयों में श्री सियारामशरण जी गुप्त ने काव्य-क्षेत्र में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। हिन्दी के कवि मुंशी अजमेरी गुप्त जी के अनन्य मित्र थे। मित्र ही नहीं, गुप्त जी उन्हें भाई ही मानते थे और सदैव अपने साथ रखते थे। उनके परिचितों में काशी के प्रसिद्ध कलाविद् रायकृष्णदास जी से उनकी बड़ी घनिष्टता है। उनकी काव्य-प्रतिभा के विकास में स्वर्गीय पंडित महावीर प्रसाद जी

द्विवेदी का प्रमुख हाथ है। 'सरस्वती' के द्वारा द्विवेदी जी ने गुप्त जी को बहुत प्रोत्साहन दिया। द्विवेदी जी गुप्त जी को बड़ी स्नेह की दृष्टि से देखते थे। गुप्त जी की पहली रचना 'रङ्ग में भङ्ग' जब संवत् १९६६ में प्रकाशित हुई तब उसकी भूमिका में पं० महावीर प्रसाद जी ने लिखा था:—

.....रही स्वयं कविता तो उसके विषय में कुछ कहने का हमें अधिकार नहीं, इसलिये कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की रचना को हम प्यार करते हैं—उसे स्नेहार्द्र दृष्टि से देखते हैं।

उनके अनुग्रह को बड़ी कृतज्ञता से उन्होंने साकेत की भूमिका में स्वीकार किया है:—

.....आचार्य पूज्य द्विवेदी जी महाराज के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना मानों उनकी कृपा का मूल्य निर्धारित करने की ढिठाई करना है। वे मुझे न अपनाते तो मैं आज इस प्रकार आप लोगों के समक्ष खड़े होने में भी समर्थ होता या नहीं, कौन कह सकता है—

करते तुलसी भी कैसे मानस-नाद
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।

बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त ने खड़ी बोली के परिमार्जन में अथक परिश्रम किया है। आधुनिक-काल के प्रसिद्ध कवि प्रसाद, पंत,

निराला, महादेवी आदि सब ने उनके उपरान्त लिखना प्रारम्भ किया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों में तो खड़ी बोली का प्रयोग किया था, परन्तु जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है वहाँ वे ब्रजभाषा को ही अपनाते रहे। खड़ी बोली में उन्होंने कम लिखा है। श्रीधर पाठक ने अवश्य अपने अनुवादों में खड़ी बोली में माधुर्य भरने का प्रयत्न किया, पर वह कहीं-कहीं अत्यन्त अव्यवस्थित है। 'जगत-सचाई सार' वाली रचना में उन्होंने "नहीं" को 'नहि' 'सकता' को 'सक्ता', 'इसको' को 'इस्को' आदि लिखा है। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी भी कवि थे, पर मराठी से वे अत्यधिक प्रभावित थे और उनकी रचनाएँ अत्यन्त रूखी और गद्यात्मक हैं। हाँ, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय अवश्य एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने गुप्त जी से पहिले लिखना प्रारम्भ किया और खड़ी बोली कविता में रस भरा। पर प्रिय-प्रवास में संस्कृत वर्ण-वृत्तों को स्वीकार करने से और लम्बे लम्बे समासों का प्रयोग करने से उनकी वर्णन शैली किसी भी परिवर्ती कवि द्वारा ग्रहीत नहीं हुई। गुप्त जी ने व्याकरण-सम्मत, सरस और सरल साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया है। इसी से उनके कार्य की महत्ता को आँका जा सकता है।

गुप्त जी ने अब तक निम्न-लिखित ग्रन्थों का प्रणयन किया है—

अनुवाद (अ) **बंगला से**

माइकेल मधुसूदनदत्त

१. विरहिणी ब्रजांगना संवत् १९७१

२. वीरांगना	,,	१९८४
३. मेघनाद-वध	,,	,,

नवीनचन्द्रसेन

४. पलासी का युद्ध	,,	१९७१

(आ) **संस्कृत से**

भास

५. स्वप्नवासवदत्ता	,,	१९८६

(इ) **फ़ारसी**

उमर ख़य्याम

६. रुबाइयात उमर ख़य्याम		१९८८

मौलिकः

१. रंग में भंग		१९६६
२. जयद्रथ-वध		१९६७
३. पद्य प्रबन्ध		१९६९
४. भारत-भारती		,,
५. शकुन्तला		१९७१
६. तिलोत्तमा		१९७२
७. चन्द्रहास		१९७३
८. पत्रावली		,,
९. वैतालिक		,,

१०.	किसान	१९७३
११.	अनघ	१९८२
१२.	पञ्चवटी	,,
१३.	स्वदेश-संगीत	,,
१४.	हिन्दू	१९८४
१५.	शक्ति	,,
१६.	सैरन्ध्री	,,
१७.	वन-वैभव	,,
१८.	वक-संहार	,,
१९.	विकटभट	१९८५
२०.	गुरुकुल	,,
२१.	झङ्कार	१९८६
२२.	साकेत	१९८८
२३.	यशोधरा	१९८९
२४.	द्वापर	१९९३
२५.	मंगल-घट	१९९४
२६.	नहुष	१९९७
२७.	कुणाल-गीत	११९९
२८.	अर्जन और विसर्जन	,,
२९.	काबा और कर्बला	,,
३०.	विश्व-वेदना	,,

गुप्त जी की जैसी वेश-भूषा सरल है वैसा ही स्वभाव भी। वे आदर्श-प्रिय व्यक्ति हैं। भगवान राम के वे अनन्य उपासक हैं। चिरगाँव में 'साहित्य प्रेस' नाम से उनका अपना एक प्रेस है, जिसमें अपनी पुस्तकें वे स्वयं ही प्रकाशित करते हैं। पिछले दिनों काँग्रेस आन्दोलन में (वैशाख सं० १९९८) भारत-रक्षा-विधान के नाम पर उन्हें सरकार ने राजबन्दी बनाकर उनके राष्ट्र-कवि की पदवी को प्रमाणित कर दिया। देश में जैसी ख्याति गुप्त जी की रचनाओं को मिली है वैसी किसी अन्य कवि के ग्रन्थों को नहीं। उनके पचासवें वर्ष की समाप्ति पर काशी में धूम-धाम से उनकी जयंती मनाई गई। उनके साकेत महाकाव्य पर हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी ने ५००) का और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने १२००) का मंगला-प्रसाद पारितोषिक देकर उस ग्रन्थ की श्रेष्ठता स्वीकार की है। भारतीय संस्कृति के उपासक इस राष्ट्रीय-कवि को जन्म देकर हमारी मातृभूमि धन्य और मातृ-भाषा गौरवान्वित हुई है।

रूपान्तरकार

मैथिलीशरण जी मौलिक साहित्यकार ही नहीं, सफल अनुवादक भी हैं। उन्होंने एक नहीं, तीन-तीन भाषाओं का रसास्वादन किया-कराया है। बंगला भाषा के दो प्रसिद्ध कवियों को उन्होंने चुना। उनमें से एक थे नवीनचन्द्र सेन, जिनके 'पलाशीर युद्ध' का पद्यानुवाद उन्होंने 'मधुप' उपनाम से किया, दूसरे थे माइकेल मधसूदन दत्त जिनकी 'विरहिणी व्रजांगना', 'वीरांगना' और 'मेघनाद वध' महाकाव्य को मातृभाषा के साँचे में ढाला। संस्कृत में महाकवि भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक का हिंदी जनता से परिचय कराया। बँगला और संस्कृत के अतिरिक्त फ़ारसी के मस्त दार्शनिक कवि उमर ख़य्याम की रुबाइयों का एडवर्ड फ़िट्ज़जेराल्ड के अनुवाद के आधार पर हिंदी रूपान्तर आपने दिया। इस प्रकार हम चाहें तो तीन के स्थान पर चार भाषाओं का अनुवादक भी मैथिलीशरण जी को कह सकते हैं।

अनुवादक का कार्य्य मौलिक लेखक से कहीं कठिन होता है। मौलिक लेखक को जो स्वतंत्रता प्राप्त है वह अनुवादक को नहीं।

लेखक अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार भाव और भाषा सम्बन्धी काट-छाँट कर सकता है; परंतु अनुवादक के हाथ ही नहीं बँधे रहते, उसके मन और बुद्धि पर भी मूल कृति का अनुशासन रहता है। मूल लेखक के भावों में किसी प्रकार का परिवर्तन वह लाख इच्छा होने पर भी अपने संस्कार अथवा अभिरुचि की तुष्टि के लिये नहीं कर सकता। मैथिलीशरण जी भगवान राम के अनन्य भक्तों में से हैं। माइकेल मधसूदन ने रामायण की कथा को जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह गुप्तजी को कहीं-कहीं खटकी है—विशेष रूप से वहाँ जहाँ उनके संस्कारों के अनुसार कवि ने राम की मर्यादा का उचित ध्यान नहीं रखा। अपने हृदय की इस खिन्नता को उन्होंने भूमिका में व्यक्त किया है :

पापी राक्षसों के प्रति कवि का इतना पक्षपात देखकर जान पड़ता है, लंका का राज-कवि भी मेघनाद वध में वर्णित घटनाओं का ऐसा ही वर्णन करता। हम लोगों ने भारतवर्षीय कवियों द्वारा वर्णित 'राम चरित' बहुत पढ़ा-सुना है। राक्षसों के कवि की कृति भी तो हमें देखनी चाहिये।

इन पंक्तियों में मधुसूदन को एक प्रकार से गुप्तजी ने राक्षस ही कह दिया है।

चिर-प्रतिष्ठ आदर्श को हीन प्रदर्शित करने के कारण माइकेल को रवीन्द्रनाथ जैसे उदार-चेताओं की भी अवहेलना सहनी

पड़ी थी। मैथिलीशरण जी तो समीक्षा करते समय व्यक्तिगत बातों तक उतर आये हैं।

राक्षस परिवार के ऊपर अत्यधिक आकर्षित होजाने के कारण वह (कवि) भगवान रामचन्द्र के आदर्श की रक्षा न कर सके·····। जिन्हें हिन्दू लोग ईश्वर का अवतार अथवा आदर्श वीर, आदर्श राजा और आदर्श गृहस्थ मानते और जानते है उनमे भीरुता, दीनता और दुर्बलता का आरोप करना अनुचित है····· ··· किंतु माइकेल मधसूदन दत्त का जीवन ही अनियमित और असंगत था·····। उन्होंने अपना कुटुम्ब छोड़ा, समाज छोड़ा, धर्म छोड़ा और धनी पिता के पुत्र होने पर भी बंगाल के इस अनुपम कवि को अन्त में दातव्य चिकित्सालय मे अपना शरीर छोड़ना पड़ा।

—मेघनाद वध

कहने का तात्पर्य यह है कि अनुवादक की स्थिति बड़ी विवशता की होती है। यह विवशता घटनाक्रम और चरित्र-चित्रण तक ही सीमित नहीं होती। एक-एक शब्द तक में सिमटी होती है। प्रत्येक भाषा का अपना एक अलग माधुर्य होता है। अन्य भाषा में जाकर वह माधुर्य वैसा ही बना रहेगा, यह निश्चय पूर्वक संसार का बड़े से बड़ा अनुवादक भी नहीं कह सकता। संस्कृत के गीत गोविंद और हिंदी की विद्यापति-पदावली का अनुवाद इसी सरसता के साथ संसार की किसी भी भाषा में नहीं होसकता। जयदेव और विद्यापति

में संगीत की मिठास और कोमलता है वह अनुवादक कहाँ से लावेगा !

हिंदी के लिये ही नहीं, यही बात फ़ारसी के सूफ़ियों और बँगला के रवि बाबू के लिये भी सत्य है। उन्होंने जो मधुरता अपनी-अपनी भाषा में भरदी है वह उसी स्निग्धता के साथ अंग्रेज़ी या और किसी भाषा के शब्दों में सहसा नहीं ढाली जा सकती।

ऐसी कठिनाई भाषा के आलंकारिक और लाक्षणिक प्रयोगों को लेकर होती है। उदाहरण के लिये केशवदास अथवा सेनापति के किसी ऐसे कवित्त का जिसके श्लेष के आधार पर तीन या चार अर्थ निकलते हों यदि कोई अनुवाद करना चाहे तब बिना व्याख्या के उस कर्म में कैसे सफल होसकता है ? कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी-किसी भाषा के शब्दों में जो व्यञ्जना शक्ति भरी रहती है, वह अन्य भाषाओं के उसी अर्थ के शब्दों में नहीं होती। इतना ही क्यों कभी तो दो भाषाओं के एक से पर्याय मिलते ही नहीं। विभिन्न परिस्थितियों के कारण एक देश के लिये जो दृश्य, जो पशु पक्षी प्रिय होते हैं वे ही अन्य भूखण्ड के लिये अप्रीतिकर ही नहीं अपरिचित भी होसकते हैं।

मैथिलीशरण जी के मार्ग में भी कठिनाइयाँ थीं जिनका उल्लेख उन्होंने अनुवादित ग्रंथों की भूमिका में अत्यन्त स्पष्टता से कर दिया हैं। परंतु उन्हें अपने कार्य में पूर्ण सफलता मिली है। इसके कई कारण

हैं। पहिला कारण तो यह है कि वे हिंदी जैसी समृद्धि शालिनी और व्यञ्जना-प्रधान भाषा के मर्मज्ञ हैं। ऐसी पूर्ण भाषा का सहारा पाने से उनके कार्य में बड़ी सुगमता होगई है। खड़ी बोली में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग वे प्रचुरता से करते हैं। भास के संस्कृत नाटक का अनुवाद करने में तो भाषा-सम्बन्धी सहायता उन्हें मिली ही होगी; बँगला के काव्य ग्रन्थों के अनुवाद में भी उनका कर्म-पथ सहज हो उठा होगा; क्योंकि यह भाषा भी संस्कृत की बहुत ऋणी है।

मैथिली शरणजी की सफलता का दूसरा कारण है सच्चे साहित्यिकों की-सी उनकी निर्मल मनोवृत्ति। ये अनुवाद उन्होंने किसी को प्रसन्न करने के लिये अथवा पैसा कमाने के लिये नहीं किये। गुण ग्राहकता, साहित्य-प्रेम और उदार आदान-प्रदान ही इस कर्म के मूल में रहे हैं। उन्हीं के शब्दों में—

(१) मेघनाद-वध सदृश काव्य एक प्रांत का ही धन न रहे; राष्ट्र-भाषा द्वारा वह राष्ट्रीय सम्पत्ति बन जाये। इतना न होसके तो अन्ततः उस रत्न की झलक हिंदी भाषा-भाषियों को भी देखने को मिल जाय, इसी के लिये यह साहस कहिये, प्रयत्न कहिये, या परिश्रम कहिये, किया गया है। —मेघनाद-वध

(२) हमारी भाषा के साहित्य में जो सामग्री है वह तो हमारी सम्पत्ति है ही, यदि दूसरी भाषाओं की विशेष सामग्री भी हमारी भाषा में आकर अपनी होजाय तो क्या यह थोड़े गौरव की

बात है ? क्या इससे कम उपकार की आशा है ? इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अनुवाद के रूप में भिन्न-भिन्न भाषायें परस्पर भावों का आदान-प्रदान किया करती हैं ।

हमारी भाषा में तो इसकी और भी आवश्यकता है, क्योंकि वह राष्ट्र-भाषा होने का दावा रखती है । उसमें सारे राष्ट्र के भावों का सन्निवेश होना चाहिये ।

—पलासी का युद्ध

(३) लेखक में अनुवाद करने की योग्यता होने पर भी उसने जो यह साहस किया है इसके दो कारण हैं—एक तो इस पुस्तक की कविता इतनी मधुर है कि उसने लेखक को विवश किया कि किसी तरह इसका रसास्वादन हिंदी प्रेमियों को भी कराया जाय । दूसरा कारण यह है कि इस ओर भी शिक्षित समुदाय का ध्यान आकर्षित हो और भिन्न-भिन्न भाषा के कवियों की रचनायें अनुवादित होकर मातृ-भाषा की श्री-वृद्धि करें ।

—विरहिणी-व्रजांगना

(४) भास के इस अपूर्व नाटक के अनुवाद में अपने आपको निमित्त मानकर मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ ।

—स्वप्नवासवदत्ता

अनुवादक के रूप में मैथिलीशरणजी की काव्य-क्षमता का अनुमान केवल वही व्यक्ति ठीक से लगा सकते हैं, जो मूल और

अनुवाद को साथ-साथ रखकर पढ़ें। गुप्त जी की विशेषता यह है कि अनुवाद में मूल भावों की पूर्ण-रक्षा करते हुये फ़ारसी, बँगला और संस्कृत काव्यों का जो सौंदर्य था वह तो उन्होंने अक्षुण्ण रखा है साथ ही जहाँ उन में शिथिलता और भाषा-सम्बन्धी दोष था वहाँ अपनी प्रतिभा से छोटे-छोटे परिवर्तन करके उन्हें भी चमका दिया है। कहीं शब्दों के अधिक पर्यायों का प्रयोग करके, कहीं व्याकरण की अशुद्धियों को ठीक करके, कहीं मुहावरों का उचित प्रयोग करके, कहीं दूरान्वय को दूर करके, कहीं पुनरुक्तियों को उठाकर, कहीं किसी सार्थक विशेषण को डालकर, कहीं शब्द का अनुचित प्रयोग हटाकर कवि ने वही काम किया है जो सफल चित्रकार किसी दूसरे के चित्र में अपनी सिद्ध तूली के एकाध स्पर्श से करता है।

रचनाओं में जो प्रवाह विद्यमान है वह विशेष रूप से प्रशंसनीय है। पढ़ते समय यह पता ही नहीं चलता कि हम अनुवाद पढ़ रहे हैं।

(१)

यह प्राचीन पथिकशाला है, अहोरात्रि जिसके दो द्वार,
खुलते और बन्द होते हैं, बारी बारी बारम्बार।
कितनी तड़क भड़क से इसमें आये हैं कितने सम्राट्
एक द्वार से घुसे, घड़ी भर ठहरे, हुए अन्य से पार।

(२)

यह उल्टा प्याला है जिसको आसमान कहते हैं हम,
जिसके नीचे मरते गिरते कसे गँसे रहते हैं हम,
हे बेकार हाथ फैलाना. किसी लिये इसके आगे,
पड़ा उसी चक्कर मे यह भी, विवश जिसे सहते है हम।

—रुबाइयात उमर ख़य्याम

(३)

शिखिनि ! विरम वदना हो बैठी तरु शाखा पर तू कैसे ?
तेरे प्राण न देख श्याम को रोते है क्या मुझ जैसे ?
तू भी है दुखिया क्या, आहा ! उन पर कौन नही मरता ?
किसे नही शशि शीतल करता, किसका हृदय नही हरता ?

—विरहिणी-व्रजांगना

(४)

तन्द्रा टूटी चौंक पडी वह भय से यथा कुरंगिनी,
थी दुखिया सिराज की बेगम वही शिविर की संगिनी
मुख पर शोक-मेघ की छाया हुई और भी गाढ़ थी,
रेखाचिह्न कपोलों पर कर चुकी अश्रुजल बाढ़ थी।
रही युगल लोचन कमलो में आभा वह न विलास की
बिला गई ओठों की लाली बिजली वह मृदु हास की
वे दृग युग, वह स्वर्ण वर्ण, वह वदन विभा का पात्र-सा
और सुन्दरी का सुगात्र वह है अब छाया-मात्र-सा।

—पलासी का युद्ध

(५)

करता समीर दूर साँय साँय शब्द है
रह रह दीघ श्वास लेता है विलापी ज्यों।
मर्मर निनाद कर पत्र मानों शोक से
हिलते हैं ! डालों पर पक्षी चुप बैठे हैं !
राशि राशि पुष्प पड़े पादपों के नीचे हैं,
मानों मनस्ताप-तप्त होके तरुराजि ने
भूषण उतार कर फेंक दिये अपने !

—मेघनाद-वध

इस प्रकार अनुवाद के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त जी की देन कई दिशाओं में है। पहली बात यह कि प्राचीन भाषा, प्रान्तीयभाषा, और विदेशी भाषाओं में जो काव्य-निधि रक्षित है उसका परिचय गुप्त जी ने हम कराया है। विभिन्न भाषाओं की भावसुषमा और रस माधुरी से हमारी आत्मा को तृप्त किया। दूसरी बात यह कि उन्होंने हमारे साहित्य-भंडार को कुछ काव्य-रत्न भेंट किये जिन से हमारे साहित्य की अभिवृद्धि हुई। तीसरा काम उन्होंने इन्हीं अनुवादों के सहारे हमारी खड़ी बोली को परिमार्जित करने का किया। यह कभी भी विस्मरण नहीं करना चाहिये कि खड़ी बोली जिस मधुर, सुष्ठ और प्रांजल रूप में आज हमारे सामने आरही है उस का बहुत-कुछ श्रेय श्री मैथिलीशरण जी को है। अनुवादक को शब्दों का जैसा उपयुक्त

ज्ञान होता है वैसा किसी को नहीं. क्योंकि उस तो प्रत्येक शब्द को तौल कर उठाना पड़ता है। अनुवाद के रूप में गुप्त जी ने जो सराहनीय श्रम किया उसकी मधुरता का आभास उनके बाद के काव्य ग्रन्थों में बराबर पाते है। गुप्त जी को खड़ी बोली कविता के उद्यान का चतुर माली कहना चाहिये जिनकी काट छाँट और रसदान से अनेक ग्रन्थों की डालियाँ आज पल्लवित, पुष्पित और फलभार से नमित दिखाई देती है।

धार्मिक उदारता

ईश्वर ने सृष्टि का सृजन अखंड रूप में किया था; परन्तु मनुष्यों ने पर्वतों, सरिताओं, समुद्रों, द्वीपों को विभाजक रेखायें समझ कर मानव जाति को सहस्र खंडों में विभक्त कर दिया। उसने बल के आधार पर, धन के आधार पर छोटे-बड़े का प्रश्न खड़ा किया। इतने से ही संन्तुष्ट न रह कर उसने विश्वासों के आधार पर अपनी संकीर्णता प्रकट की। मानवता जैसे व्यापक धर्म और ब्रह्म जैसे व्यापक विभु को विस्मरण करके उसने हिन्दू, ईसाई, इस्लाम धर्मों का प्रचार किया। कहीं उसका ईश्वर स्वयं ही पृथ्वी पर आया और कहीं पुत्र अथवा दूत बन कर दौड़ा। ईसाइयों में कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट, मुसलमानों में शिया-सुन्नी, हिन्दुओं में सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, जैन, बौद्ध, सिक्ख, कबीर-पंथी आदि उसने खड़े किये। इस प्रकार प्रत्येक संप्रदाय का एक भिन्न ईश्वर हुआ और धर्म के अन्ध-भक्तों द्वारा उन ईश्वरों के नाम पर इतना रक्तपात हुआ जिसका परिमाण नहीं।

कवि स्वभाव से ही उदारचेता होता है और सामान्यतः साम्प्रदायिक संकीर्णता से हम उसे उठा हुआ ही पाते हैं। प्राचीन कवियो

में कबीर, जायसी और तुलसी इसी प्रकार के कवि थे। वे दूसरे के प्रति उदार दृष्टिकोण ही नहीं रखते थे, अपने जीवन का भी उन्होंने यह लक्ष्य बना लिया था कि जहाँ तक हो सके मनुष्य मनुष्य को मिला कर आन्तरिक कलह को शान्त करजायँ। उनका अपना अपना उपास्य निर्दिष्ट था। आज के आधुनिक कवियों में वैसा ही महान् हृदय और उदार दृष्टिकोण मैथिलीशरण जी ने भी पाया है।

मैथिलीशरण जी भगवान राम के अनन्य उपासक हैं और मैं नहीं समझती इस प्रकार की अनन्यता हिन्दी कवियों में तुलसी को छोड़ कर और किसी ने अपने काव्य ग्रन्थों में प्रदर्शित की हो। अपने ग्रन्थों को प्रारम्भ करने से पूर्व उन्होंने राम अथवा वैदेही का स्मरण अन्तर की पूर्ण आस्था के साथ किया है—

(१) वाचक! प्रथम सर्वत्र ही जय जानकी जीवन कहो।

—जयद्रथ-वध—

(२) सीता पते! सीता पते

—भारत-भारती

(३) संचित किये रखे हुए,
शुक-वृन्द के चक्खे हुए
कुछ फल कि जो थे दीन शबरी के दिये;
खाकर जिन्होंने प्रीति से,
शुभ मुक्ति दी भव-भीति से,

वे राम रक्षक हों धनुर्धारण किये ।

—बक-संहार

(४) क्यों हैं हम यों विवश अकिञ्चन, दुर्बल रोगी ?
दयाधाम हे राम ! दया क्या इधर न होगी ?

—किसान

(५) जय कबीर नानक दादू का
बापू का वाणी विश्राम
नव नव रूप पुराण पुरुष उन
लीलाधाम राम का नाम ।

—गुरुकुल

(६) भक्षक का भय है न हमें
बस रक्षक राघव राम रहें ।

—चन्द्रहास

(७) राम तुम्हारे इसी धाम में
नाम रूप गुण लीला लाभ;
इसी देश में हमें जन्म दो
लो प्रणाम हे नीरज नाभ ।

—यशोधरा

(८) मुझ पर चढ़ने से रहा राम दूसरा रंग

—द्वापर

(९) आप अवतीर्ण हुए, दुःख देख जन के
भ्रातृ हेतु राज्य छोड़, बासी बने बनके

राक्षसों को मार भार मेटा धरा धाम का
बढ़े धर्म दया-दान-युद्ध वीर राम का

—सिद्धराज

(१०) किन्तु मैं बढ़ूँगा राम
लेकर तुम्हारा नाम।

—नहुष

(११) वहाँ पन्थ-भय क्या भला, मेरे अन्ध प्रबन्ध,
जहाँ खींचता है तुझे राम चरण रज-गन्ध।

—कुणाल-गीत

(१२) जहाँ राम बाम हुए आशा वहाँ किसकी ?

—अर्जन और विसर्जन

(१३) छोड़कर वह त्रेता युग दूर,
आज हम बढ़ आये भरपूर।
साथ ही वह कर्बुरता क्रूर,
प्रगति के मद में है यह चूर।
आज के योग्य एक अविभाज्य,
विश्व को मिले राम का राज्य।

—विश्व वेदना

(१४) अद्भुत अपूर्व अगर्भजा, प्रत्यक्ष अपनी ही कला,
श्री मैथिली के रूप की ज्योतिः शिखा वह निश्चला
सुर पुर जयी लंकेश रावण शलभ-सा जिसमें जला
सत्पथ दिखा कर सर्वदा करती रहे सब का भला।

—तिलोत्तमा

(१५) भावुक भव भय छोड़ दो,
सीता भजो सभक्ति ।

—शक्ति

(१६) सुफलदायिनी रहे राम कर्षक की सीता ।

—सैरन्ध्री

(१७) अतुल वह अपना हेमागार,
जलाकर कर देने को छार ।
जानकी रूपी आग अपार,
चुराने का करके कुविचार
चला जो रावण निपट निषिद्ध,
मंगलाचरण करे वह सिद्ध

—बन-वैभव

(१८) इस देही की गति वैदेही,

—काबा और कर्बला

इन उद्धारणों से यह स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि बिना राम-सीता को शीश झुकाये मैथिलीशरण जी काव्य-पथ पर बढ़ते ही नहीं। ऊपर के ग्रन्थों में उनके दो प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थों के नाम नहीं आये। वे हैं पंचवटी और साकेत। पर पंचवटी और साकेत तो राम, लक्ष्मण और सीता के चरित्र को ही लेकर चले हैं। साकेत में राम-भावना यहाँ तक अनन्यता पकड़ गई है कि वे उन से भिन्न ईश्वर की कल्पना भी नहीं करना चाहते। उन्हें नास्तिक होना पसन्द है पर राम नाम का पल्ला छोड़ना नहीं।

"राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करें।"

मैथिलीशरण जी के स्थान पर ऐसी दृढ़ आस्था वाला यदि कोई अन्य व्यक्ति होता तो हम उससे साम्प्रदायिक संकीर्णता की आशंका रखते, पर गुप्त जी के साथ बात ही दूसरी है। अपने-राम को अत्यधिक प्रेम करने के कारण ही तो वे दूसरों को भी प्रेम करना सीखे हैं। उन के ग्रन्थों में द्वापर और जयद्रथ-वध श्री कृष्ण के चरित्र से सम्बन्ध रखते हैं; यशोधरा और अनघ बुद्ध के जीवन से; गुरुकुल सिक्ख गुरुओं के दृढ़ पावन आचरण से और काबा-कर्बला इमाम हुसेन के व्यक्तित्व से। विशेषता यह है कि जिस विषय को गुप्त जी ने उठाया है उस में उन के मन की पूरी तन्मयता झलकती है। राम के इस भक्त ने श्री कृष्ण-भक्तों, तथागत के अनुयायियों, सिक्ख धर्म के मानने वालों और इस्लाम के बन्दों के हृदय में हृदय डालकर अपनी काव्य-वंशी में स्वर भरे हैं।

---

१. फैलाओ हिन्दू साहित्य
युग युग का सहचर निज नित्य,
निज भू, निज भूषा, निज वेश
निज भाषा, निज भाव अशेष।

२. न तो श्रेष्ठ है सब प्राचीन,
और निकृष्ट न सभी नवीन।

३. करके शिक्षा कार्य समाप्त,
विद्यालय की पदवी प्राप्त,
फिर तुम ग्रामों में कर वास,
ग्रामीणों का करो विकास ।

४. है स्वर्गीय अहिंसा शुद्ध,
किन्तु जगत है शुद्ध न बुद्ध,
वह है जीवन युद्ध क्षेत्र
लचो किन्तु बन कर दृढ़ वेत्र

५. हम निश्चित हैं कृत संकल्प,
लेंगे क्या स्वराज्य से अल्प ?

राष्ट्रीय कवि

पिछले एक हज़ार वर्ष से देश संकट-ग्रस्त रहा है। इस पर कितनी आँधियाँ आकर उतर गईं, यह वही जानता है जिसने इतिहास-ग्रन्थों में वर्णित घटनाओं पर ही संतोष न करके इधर-उधर से भी इस देश की विपन्न दशा को जानने का प्रयत्न किया है। इसी पिछले एक हज़ार वर्ष में हिंदी का जन्म, लालन और विकास हुआ। अतः स्वाभाविक था कि वह उन सब संस्कारों को रक्षित रखती जो उसके बचपन से अब तक उसके साथी रहे।

राष्ट्रीय कवि का अर्थ होता है राष्ट्र का कवि। अतः राष्ट्रीय कवि का गौरवास्पद पद प्राप्त करने के लिये उसके हृदय में एक राष्ट्र की भावना को जन्म लेना चाहिये। संसार जानता है कि यहाँ के मूल निवासी हिंदू हैं, अतः यह देश उस समय से जिसका पता इतिहास को भी नहीं है, न्यायतः हिन्दुओं का है। इससे मैं किसी प्रकार की संकीर्णता को प्रश्रय नहीं देना चाहती। हिन्दुओं के साथ ही मेरी दृष्टि से यह देश किसी भी जाति के उस व्यक्ति का भी है जो इसे अपना समझता है। चाहे वह पारसी, मुसलमान, अंग्रेज़, अमेरिकन,

चीनी, जापानी, जर्मन कोई हो। पर अनुभव बतलाता है कि बाहर का व्यक्ति सदैव बाहर का ही रहता है। यदि ऐसा न होता तो यह देश आज परतन्त्र न होता। देश के रक्षक और देश के विरोधियों के दो दल प्रारम्भ से ही रहे है। जब महमूद ग़जनवी और मुहम्मद ग़ोरी ने इस भूमि को अपनी धन-लिप्सा और रक्त-पिपासा से रक और रक्त-रंजित किया तब भी चंद जैसे कवि उनके विरोध के लिये पृथ्वीराज जैसे प्रबल सम्राट् को प्रोत्साहित करते रहे। मुग़लोंके शासन काल में जब औरंग़जेब की धार्मिक कट्टरता अपनी सीमा पर पहुँच गई तब शिवाजी के कर्म की प्रशंसा करने वाला भूषण उत्पन्न हुआ। परन्तु चारण-काल के कवियों या रीति-काल के भूषण और लाल को हम राष्ट्रीय कवि की पदवी नही दे सकते। उसका कारण है। चारण काल के कवियो की सारी दृष्टि अपने अपने राजाओं, जैसे पृथ्वीराज और जयचंद के शौर्य-वर्णन तक सीमित थी। राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने की ओर उनका ध्यान न था। मुग़लो मे औरंग़जेब धार्मिक-उदारता, न्याय और सुशासन का अपवाद था; नही तो बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ सभी से प्रजा संतुष्ट थी। मुसलमानों को उस समय साथ-साथ रहते एक तो इतने दिन हो गये थे कि भारत उनका घर बनचुका था; दूसरे देश की अधिकतर मुसलमान जनता वे हिंदू थे जो कभी भय या प्रलोभन से धर्म-परिवर्तन कर बैठे थे। औरंग़जेब के शासन का अन्त हुआ, और इस प्रकार साम्राज्य-पतन का जो बीज उसने बोया था वह एक दिन फल लाया। महाराष्ट्र

नेता के गुणगायक भूषण को इसी में हम एक जातीय कवि कहेंगे। पर आज का आन्दोलन सामंतीय या प्रान्तीय न होकर अखिल देश-व्यापी है। इसी से जो कवि आज देश के हृदय की वाणी को शब्द-रूप देगा वह राष्ट्रीय कवि कहलाने का अधिकारी होगा।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के काल से ही राष्ट्रीय भावना कवियों की हृदय-भूमि में अंकुर लगा चुकी थी और आज वह माखन लाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण नवीन, सुभद्रा कुमारी चौहान और अब इधर सोहन लाल द्विवेदी के रूप में अनेक टहनियों में फूट उठी है। पर इन सब से भी अधिक व्यापक और मार्मिक दृष्टि-सम्पन्न एक और कवि हैं। और वे हैं हमारे श्री मैथिलीशरण गुप्त।

गुप्तजी के राजनीतिक विचार उनके काव्यों में बिखरे पड़े हैं। इन ग्रन्थों में से मुख्य हैं—साकेत, मंगलघट, भारत-भारती, हिंदू, अनघ, बक-संहार, वन-वैभव, पंचवटी आदि। पर एक ही स्थान पर उन्हें अभिव्यक्ति मिली है 'स्वदेश-संगीत' में।

'भारत-भारती' और 'हिंदू' की भाँति 'स्वदेश संगीत' भी आर्य जाति के उत्थान, पतन और उद्‌बोधन की गाथा है। इसमें भी अन्तर का 'स्व' स्पष्टता से झलक उठा है। अपनी भूमि, अपनी भाषा, अपनी जाति, अपनी संस्कृति, अपने अधिकार, सभी प्रकार के अपनत्व की गूँज इस संगीत में है।

देश की महिमा का वर्णन हृदय की समस्त ममता के साथ अंकित हुआ है। यहाँ की मिट्टी; यहाँ की जलवायु; यहाँ की ऋतुओं; यहाँ का पर्वत; यहाँ के सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र; यहाँ के समुद्र, वन, बादल; पशु, पक्षी, फल, फूल, सरिता, सरोवर सभी को ललक-भरी दृष्टि से देखता है। देश-प्रेम इसी का नाम है। प्रकृति के संपर्क मे व्यतीत होने वाले प्राचीन जीवन, यज्ञ-धूम से सुवासित होने वाली दिशाओं, रोग-शोक से हीन आर्य जाति, धनधान्य से भरी धरित्री को एक बार फिर कवि स्मरण करता है। संस्कृति की उपासना इसी को कहते हैं।

'स्वदेश संगीत' में राष्ट्र-भाषा पर भी कवि ने अपने विचार निर्भीकता से व्यक्त किये हैं। हिंदी को छोड़ कर और कौन सी भाषा है जो इस पद पर अधिष्ठित होसके! जीवन की उन्नति को गुप्तजी भाषा की उन्नति के साथ अनिवार्य रूप से जोड़ते हैं। जिस भाषा में पुत्र 'पिता' कहता; पत्नी 'प्राणाधार' कहती; कर्म, भक्ति ज्ञान का संदेश मिलता; पूर्वजों की उज्ज्वल गाथायें सुनने को मिलती वह हमें क्यों न प्यारी होगी? मातृभाषा का समर्थन इस से अच्छे ढंग से और कोई क्या कर सकता है!

मेरी भाषा में तोते भी
'राम-राम' जब कहते हैं
मेरे रोम-रोम मे मानों
सुधा-स्रोत तब बहते हैं

प्रश्न हो सकता है कि इस देश-प्रेम में अन्य जातियों, विशेष-रूप से मुसलमानों को कहाँ स्थान है? उनके प्रति गुप्तजी का क्या दृष्टिकोण है? सामान्य रूप से उनके प्रति कोई विद्वेष उनके हृदय में नहीं है। इस्लाम ही क्या, किसी भी जाति के प्रति द्वेष गुप्तजी की प्रकृति के विरुद्ध है। ऐसा कोमल और उदार-हृदय करोड़ों व्यक्तियों में एकाध का होता है। इस उदारता का परिचय है गुप्तजी का 'काबा और कर्बला'। पर मुसलमानी शासन के अत्याचारों को गुप्तजी विस्मरण नहीं कर पाये। 'भारत-भारती' में देश में मुसलमानों के प्रवेश को उन्होंने विघातक सिद्ध किया है। उसके लिये उन्होंने प्रमाण दिये हैं। प्यारा तो उन्हें ब्रिटिश राज्य भी नहीं है।

पर मुसलमानी राज्य से वह ब्रिटिश राज्यको अधिक आशा-पूर्ण समझते हैं —

शासन किसी पर-जाति का चाहे विशेष विशिष्ट हो।
संभव नहीं है किन्तु जो सर्वांश में वह इष्ट हो।
यह सत्य है, तो भी ब्रिटिश-शासन हमें सम्मान्य है।
वह सुव्यवस्थित है तथा आशा प्रपूर्ण वदान्य है।

—भारत भारती

पर मुसलमानों का देश में वे उचित स्थान मानते हैं और और हिन्दुओं से हिल-मिल कर रहने का उन्हें उपदेश देते हैं। आपस में लड़ते रहने पर भी, 'पर' के प्रश्न पर तो वे एक होकर सामना

कर सकते हैं, यह ध्वनि वन-वैभव की इन पंक्तियों से निकलती है:—

१. जहाँ तक है आपस की आँच,
वहाँ तक वे सौ, हैं हम पाँच।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच,
गिने तो हमें एक सौ पाँच।
कौन हैं वे गन्धर्व गँवार,
करें जो आकर यह व्यवहार।

और 'भारत भारती' में तो स्पष्ट ही कहा है :—

२. है ज्ञात क्या तुम को नहीं, तुम लोग तीस करोड़ हो,
यदि ऐक्य हो तो फिर तुम्हारा कौन जग में जोड़ हो?
क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो,
बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों की कहो।

'भारत भारती' में ब्रिटिश-शासन की प्रशंसा ही गुप्त जी ने की है। इस से एक संदेह हो सकता है। मुसलमानों का राज्य नहीं रहा अतः उनकी बुराई करने में हानि नहीं है; अंग्रेज़ों का शासन बना हुआ है, उनकी कटु आलोचना करना सहज नहीं है। पर इस प्रकार के संदेह को स्थान देने का कोई कारण नहीं है। 'स्वदेश-सङ्गीत' की अंतिम रचनायें इसका प्रमाण हैं। अफ्रीका के प्रवासी भारत-वासियों के साथ जो गौर वर्ण के लोगों ने असमानता का अपमान-जनक व्यवहार किया उस पर गुप्तजी बहुत क्षुब्ध हुए। रंग-भेद

के प्रश्न पर उन्होंने एक स्थान पर बादलों के रूपक के सहारे और दूसरे स्थान पर स्पष्ट शब्दों में निर्भीक होकर लिखा है :—

(अ) क्या कहा ?—काले ? हाँ हम श्वेत नहीं,
किंतु क्या निर्मल नीर निकेत नहीं ?
सफल करते हैं पद-विन्यास हमीं,
बुझाते हैं पृथ्वी की प्यास हमीं ।
भरी है हम में नस-नस में, बिजली,
किंतु हम रखते हैं बस में बिजली ।
खिचें हम तो दुष्काल दरसादें हम,
बूँद के लिये तुम्हें तरसा दें हम ।

(आ) नीचता का भी भला कुछ पार है.
क्या तुम्हारे ही लिये संसार है ?
तुम हमारे देश को लूटा करो—
पर यहाँ आना हमारा भार है ।

गुप्तजी के राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में इतना और जा लेना चाहिये कि वे राज-पद्धति में विश्वास रखते हैं । उनके राज्य व आदर्श 'राम-राज्य' है । इस प्रकार के विचारों को उन्होंने 'साकेत' और 'बक-संहार' दोनों में प्रकट किया है । वे भीरु, दुर्बल, अप असमर्थ राजा को पसंद नहीं करते; पर राज्य के लिये राजा हो आवश्यक समझते हैं । राजा ऐसा हो जो लोकमत से चुना ज

और वह राज्य को प्रजा की धरोहर समझ कर लोक-सेवा में निरत हो।

(क) राजा प्रजा का पात्र है,
वह लोक-प्रतिनिधि-मात्र है।
यदि वह प्रजा-पालक नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुनें, जो सब तरह अपनी सुने,
कारण प्रजा का ही असल में राज्य है।

—बक-संहार

(ख) राज्य में दायित्व का ही भार।
सब प्रजा का वह व्यवस्थागार।

—साकेत

विचारों से वे उग्र कभी नहीं रहे। निश्चित रूप से गुप्तजी महात्मा गाँधी के अनुयायियों में से हैं। सत्याग्रह, अहिंसा आदि को उन्होंने 'अनघ' और 'स्वदेश-संगीत' में अपनाया है। अनघ में महात्माजी के व्यक्तित्व की पूरी छाया है। 'स्वदेश-संगीत' में तो प्रभाव एकदम स्पष्ट है:—

(१) खुली है कूट नीति की पोल;
महात्मा गाँधी की जय बोल।

(२) अस्थिर किया टोप वालों को,
गाँधी टोपी वालों ने।

शस्त्र बिना संग्राम किया है,
इन माई के लालों ने ।
गाढ़ा आड़े हुआ नहीं तो
हमें फँसाये रखने को
रंग रंग के जाल बुने हैं,
मैशीनों की मालों ने ।

× × ×

गये दिनों में भी भारत ने
निज गौरव दिखलाया है ।
अब भी 'सत्याग्रह' सिखलाया
है, गोरों को कालों ने ।

(३) भारत का झंडा फहरै ।

अपने इस भारत को गुप्तजी संसार के बीच में रखकर देखते हैं:—

(४) संसार भर का हो सगा,
भारत न अब देरी लगा ।

(५) विश्व तुम्हारा भारत हूँ मैं ।
हूँ या था, चिन्ता-रत हूँ मैं ।

(६) ब्रिटिश जाति का गौरव होगा, उच्च हमारा सिर होगा
वह इंगलैंड और यह भारत,

होंगे एक भाव में परिणत,
दोनों के यश का दिगन्त में पुण्य पाठ फिर फिर होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तजी एक ओर तो अन्याय और अत्याचार पर रोष प्रकट करते हैं और दूसरी ओर मन से किसी का बुरा नहीं सोचते। उनकी नीति 'अनघ' के चरित्र के आधार पर यह है: 'पापों से घृणा करो प्रयत्न करो पापी का'।

भारत ने पिछले पच्चीस वर्षों में जो राजनीतिक परिवर्तन देखे हैं उन सब का लेखा किसी न किसी रूप में गुप्तजी की रचनाओं में है। उनकी देश-प्रेम सम्बन्धी कविताओं ने जैसा घर जन-मन में किया है वैसा किसी की रचनाओं ने नहीं। गुप्तजी ही हमारे और हमारे देश के एक-मात्र प्रतिनिधि कवि हैं। समय के साथ उनकी लोक-प्रियता बढ़ती जा रही है। उन के राष्ट्र-कवि होने में जो कमी रह गई थी वह भी पिछले दिनों उनके कारागार में पहुँचने से पूरी होगई। यह मानों उनकी राष्ट्रीय कवि की सनद पर मुहर थी :—

'स्वीकृत होय न सनद कहूँ जो बिना मुहर की'

—सत्यनारायण कविरत्न

नाटककार

गुप्तजी ने तीन नाटक लिखे हैं।

(१) तिलोत्तमा, (२) चन्द्रहास, (३) अनघ।

गुप्तजी को नाटककार के रूप में कोई भी स्मरण नहीं करता। सब उन्हें कवि के रूप में ही पहचानते हैं। नाटककार के रूपमें उन की ख्याति न होने के दो कारण हैं :

पहला तो यह कि उन्होंने इस क्षेत्र में थोड़े से प्रयत्न के उपरान्त फिर कोई रुचि नहीं दिखाई, कविता का ही भंडार भरते रहे। उनका तीसरा नाटक अनघ तो एक प्रकार से कविता पुस्तक ही है। तिलोत्तमा और चन्द्रहास दोनों पौराणिक नाटक हैं। पौराणिक कथा लेने में कोई दोष नहीं है। पर इन दोनों नाटकों पर संस्कृत के नाट्यशास्त्र के नियमों की पूरी पूरी छाप है।

नान्दी, सूत्रधार, नटी, पारिपार्श्वक, पद्य-मिश्रित गद्य, स्वगत, विष्कंभक, भरत वाक्य, सब कुछ उपस्थित हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य में नाट्यकला ने पश्चिम के संयोग से बड़ी उन्नति करली है। गुप्तजी के चन्द्रहास और तिलोत्तमा नाटक भी बने रहते और नाटकों के

नवीन प्रयोगों के अनुरूप वे समय समय पर हमें भी नाटक देते रहते तो मुझे पूर्ण आशा है कि इस क्षेत्र में भी वह किसी से पीछे न रहते।

मैथिलीशरणजी गद्य अत्यन्त सरस और व्यवस्थित लिखते हैं। इसका परिचय उनके काव्य ग्रन्थों की भूमिकाओं से मिलता है। पर दुर्भाग्य की बात है कि उन्होंने प्रचुर परिमाण में गद्य का व्यवहार नहीं किया। गुप्तजी में नाटककार के सभी गुण वर्तमान हैं, फिर पता नहीं गुप्तजी ने नाटक रचना के क्रम को क्यों बन्द कर दिया? मुझे अब भी इस बात का विश्वास है कि गुप्तजी अपनी गद्य और पद्य की सम्मिलित शक्ति को नाटक के माध्यम से आज़मायें तो उन्हें पूर्ण सफलता मिले और मंच पर अभिनय के उपयुक्त वे थोड़े से नाटक हमें दे जायँ। प्रसादजी के उपरांत हिंदी का यह क्षेत्र एक प्रकार से सूना ही पड़ा है। गुप्तजी इस कमी को पूरा कर सकते हैं। जो काम प्रसादजी नहीं कर सके वह मैथिलीशरणजी करके दिखा सकते हैं। प्रसादजी के नाटक केवल साहित्यिक हैं। वे और उनके भक्त चाहे कितने ही कारण उपस्थित करें, पर काट-छाँट अथवा मंच को उन्नत से उन्नत रूप देने पर भी प्रसादजी के नाटकों का सफल अभिनय नहीं हो सकता। तिलोत्तमा और चन्द्रहास को जितनी ख्याति मिलनी चाहिये थी उतनी नहीं मिली। फिर भी ये दोनों नाटक मंच पर सफलता से अभिनीत हो सकते हैं।

तिलोत्तमा

तिलोत्तमा एक पौराणिक नाटक है। इसमें देवताओं और

असुरों के पारस्परिक विरोध का वर्णन है। देवताओं का अधिपति इन्द्र है और दैत्यों का राजा सुन्द। जैसे इन्द्र स्वामी कार्तिकेय के बल से बली है उसी प्रकार सुन्द अपने भाई उपसुन्द का संयोग पाकर अजेय हो उठा है। नाटक में देवताओं और दैत्यों दोनों की वृत्तियों का दिग्दर्शन सफलता से हुआ है। देवता लोग वर देने में पूर्वीण तथा सात्विक गुणों के आकर चित्रित किये गये हैं। उनमें अनेक अवगुणों के साथ साथ दो प्रशंसनीय गुण भी हैं। एक गुण है उग्र तपस्या करने का। तपस्या के समय सुन्द और उपसुन्द को मेनका, रम्भा, और उर्वशी जैसी अप्सरायें भी विचलित नहीं कर पातीं, और परिणाम-स्वरूप वे प्रजापति से अजेय होने का वरदान प्राप्त करते हैं। दूसरा प्रशंसीय गुण है उन की वीरता। उनके आगे देवता लोग भागे भागे फिरते हैं—यद्यपि इस पलायन को उन्होंने नीति का नाम दे रखा है। गुप्त जी सद्गुणों के उपासक हैं। वे सदैव दुर्वृत्तियों पर सद्वृत्तियों की विजय देखना चाहते हैं। युद्ध-काल में कुबेर को पता चलता है कि ये दोनों भाई केवल पारस्परिक कलह से नष्ट हो सकते हैं। विश्वकर्मा एक नवीन अप्सरा तिलोत्तमा की सृष्टि करते हैं। ब्रह्मा उसमें प्राण प्रतिष्ठा करते हैं। तिलोत्तमा सुन्द और उपसुन्द की दृष्टियों को आकर्षित करती है। उसके ऊपर दोनों भाइयों में झगड़ा होता है, और इस प्रकार उस द्वन्द्व में दोनों की हत्या होने से देवता निष्कंटक हो जाते हैं।

नाटक वीर रस प्रधान है और उसमें वांछित ओज विद्यमान

है। गुप्तजी के सामने मनोरंजन और उपदेश के दो उद्देश्य इसे लिखते समय रहे थे। तिलोत्तमा के द्वारा पारस्परिक विद्वेष के दुष्परिणाम का चित्र सामने आता है। नाटक में पाँच अंक होते हुए भी वह इतना बड़ा नहीं हो पाया है जो अभिनय के लिये दो घंटे से अधिक समय ले। भाषा अत्यन्त सरल, और साहित्यिक है, वाक्य छोटे छोटे और सरस हैं :

(१) जो काम अन्तःकरण की प्रेरणा से नहीं किये जाते वे कैसे ही सुन्दर क्यों न दिखलाये जायँ परन्तु रीते बादलों की तरह उनकी निर्जीवता छिपी नहीं रहती।

(२) सभी जनों की प्रीति-पात्रता महा कठिन है : कुमुदों को प्रिय रात और कमलों को दिन है; फिर भी शशि-सम धन्य वही समझा जाता है तम में भी आलोक अमल जो फैलाता है।

तिलोत्तमा के रूप में देवताओं और दैत्यों अर्थात् सद्वृत्तियों और असद्वृत्तियों का यह संघर्ष शाश्वत है जिस में सद्वृत्तियाँ पहले दबती दिखाई देती हैं और फिर सहसा बुद्धि के सहारे असद्वृत्तियों पर विजय प्राप्त करती हैं।

चन्द्रहास

चन्द्रहास एक पौराणिक रूपक है। आकार में यह तिलोत्तमा से कुछ बड़ा है। इसकी कला भी संस्कृत नाटकों का अनुकरण करती है। वही नान्दी, वही सूत्रधार, वही नटी, वही स्वगत, वही बीच

बीच में पद्य में बातें करना और वही अन्त में भरत-वाक्य। संस्कृत नाटकों की एक विशेषता जो तिलोत्तमा में नहीं आ पाई थी और चन्द्रहास में विद्यमान है यह है कि इस में माधव के रूप में विदूषक का भी प्रवेश कराया गया है और विदूषक प्राचीन संस्कृत नाटकों के विदूषक का प्रतिनिधि-मात्र है—पेटू मात्र। उस का हास्य विवाह, पेट और लड्डू तक ही सीमित है। तिलोत्तमा और चन्द्रहास के पद्य में यह अन्तर है कि तिलोत्तमा में पद्य मात्रिक छंदों में हैं और चन्द्रहास में संस्कृत वर्ण वृत्तों — मालिनी, शिखरिणी, भुजंगप्रयात, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, द्रुतविलंबित, शार्दूलविक्रीड़ित में। भाषा वैसी ही सरल और सरस है।

यह नाटक नियति के चमत्कारों का निदर्शन-सा है। नियति इस में एक अदृश्य देवी के रूप में प्रविष्ट हुई है। जो मनुष्य चाहता है वही नहीं होता; नियति चाहती है वह होता है। कुन्तलपुर राज्य के महाराज कौन्तलप का मंत्री धृष्टिबुद्धि चन्द्रहास नामक एक राजकुमार की तीन बार हत्या कराने का प्रयत्न इसलिये करता है कि राज्य उसे न मिल कर मंत्री के अपने पुत्र मदन को मिल जाय। पहले चन्द्रहास को वह अपने दो सेवकों के हाथ में सौंप कर बन में हत्या कराना चाहता है, पर घातकों के हृदय में उसके रूप को देख कर दया उत्पन्न होजाती है और वे उस पर हाथ नहीं उठा पाते। यह चन्द्रहास चन्दनावती के राजा कुन्दलिक द्वारा गोद लिलिया जाता है। कुन्दलिक का

राज्य कुन्तलपुर राज्य के अधीन है। धृष्टिबुद्धि वहाँ पहुँच कर किसी काम के बहाने चन्द्रहास को अपने लड़के मदन के पास एक पत्र देकर भेजता है जिसमें चन्द्रहास को विष देने का आदेश अपने पुत्र को देता है। परन्तु नियति चन्द्रहास के पक्ष में है। मन्त्री की कन्या 'विषया' उसे अपने नगर के उद्यान में सोते देखती है और उस पर आकर्षित होती है। और उस पत्र को जो खिसक कर नीचे गिर पड़ा है पढ़ने के उपरांत उसमें 'विष' का 'विषया' बना देती है। परिणाम यह होता है कि चन्द्रहास धृष्टबुद्धि का जामाता बन जाता है। धृष्टबुद्ध लौटकर आता है और अपनी हठ रखने के लिये गुप्त रूप से विजनेश्वरी देवी के मन्दिर में उसे भेज कर उसकी हत्या कराना चाहता है। पर पूजा के समय चन्द्रहास के स्थान पर मंत्री-पुत्र मदन पहुँच जाता है और चन्द्रहास कौन्तलप के राज्य का आधकारी होता है।

यह नाटक भी उद्देश-गर्भित है। इस से दो-तीन बातें गुप्त जी जन साधारण के सामने रखना चाहते हैं। पहली बात यह कि नियति के सामने मनुष्य का प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होता है। दूसरी बात यह कि भगवान जिस की रक्षा करता है उसे कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता। तीसरी यह कि दुष्टता का परिणाम अन्त में भला नहीं होता। सद्वृत्तियों को जगाना गुप्तजी के काव्य का एक निदिष्ट ध्येय है।

अनघ

अनघ एक गीति-नाट्य है। अर्थात् जहाँ तिलोत्तमा और चन्द्र-

हास गद्य-पद्य मिश्रित है वहाँ अनघ केवल पद्य-बद्ध रूपक है। अनघ यद्यपि भगवान् बुद्ध के पूर्व जीवन की दिव्य गाथा का गुणगान करता है तथापि उसका निर्माण महात्मा गाँधी के आदर्शों के अनुकूल हुआ है। इस नाटक पर आधुनिकता की छाप पूर्ण रूप से पड़ी है। इसे पढ़ते ही आज की शासन-नीति और महात्मा जी के प्रयत्नों का स्वरूप आँखों के सामने आता है। अछूतोद्धार, धरना देना, मद्यपान को रोकना, अहिंसा से काम लेना, शत्रुओं को क्षमा ही नहीं उन से प्रेम भी करना, ग्रामोद्धार की ओर प्रवृत्त होना, लोक-सेवा को सब प्रकार के विरोध और संकट सहते हुए अपने जीवन का लक्ष्य बना लेना, धर्म में संकीर्णता को दूर कर मानवता के आदर्शों का प्रचार करना आदि अनघ के चारित्र की, जो इस नाटक का मुख्य पात्र है, विशेषतायें है। तिलोत्तमा और चन्द्रहास से भी अधिक दैवी वृत्तियों के प्रचार करने के लिये भूमि अनघ में कवि को मिली है। तीनों में विरोधी शक्तियाँ हैं पर वे अन्त में परास्त होजाती हैं। 'अनघ' का यह आदेश कितने लोक-मंगल का बीज बोने वाला है—

न तन सेवा न मन सेवा,
न जीवन और धन सेवा।
मुझे है इष्ट जन सेवा,
सदा सच्ची भुवन सेवा।

मुक्तक-काव्य

मैथिली शरण जी ने जिस प्रकार प्रबन्ध के क्षेत्र में सभी को चमत्कृत किया, उसी प्रकार मुक्तक के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। उन की फुटकर रचनायें अपेक्षाकृत थोडी हैं। उनके गीतों और स्वतन्त्र कविताओं पर विचार करने के लिये हमें कई स्थलों पर दृष्टि दौड़ानी होगी।

(१) प्रबन्ध काव्य के भीतर के गीत जैसे साकेत के नवम सर्ग में।

(२) नाटकों के भीतर की रचनायें, जैसे तिलोत्तमा, चन्द्र-हास के पद्य भाषण और अनघ में सुराभ और रानी के मुख से निकले उद्यान गीत।

(३) 'हिंदू' और 'स्वदेश-संगीत' की रचनायें।

(४) 'मंगल घट' और 'झंकार' की कवितायें।

साकेत के गीत कथा का ही एक अंग हैं। वे अनेक होकर भी एक हैं। अतः इनका विचार उसी सम्बन्ध में होना चाहिये। नाटकों

के पद्य भाषण इतने संक्षिप्त हैं कि उन्हें गीत की संज्ञा देना अनुपयुक्त होगा। हाँ अनघ में सुरभि का गीत वास्तव में गीत की परिभाषाके अन्तर्गत आता है। 'हिंदू' पर अन्यत्र विचार कर चुके हैं और 'स्वदेश-संगीत' का गुप्तजी की राष्ट्रीय भावना पर विचार करते समय विश्लेषण करेंगे। अतः उनकी दो रचनायें ही इस समय हमारी समीक्षा का विषय हैं।

मंगल-घट

मंगल-घट में संवत् १९६५ और १९९३ के बीच की ६२ रचनायें संकलित हैं। उनकी 'प्रणाम' कविता झंकार में भी पाई जाती है। इसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज का पत्र पत्रावली में स्थान पागया है। और विकट भट अलग पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। कुछ रचनायें स्वदेश-संगीत में भी ले ली गई हैं। मगल-घट की कविताओं को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) देश-प्रेम सम्बन्धी कविताएँ,

(२) पद्य-बद्ध कथाएँ,

(३) विविध।

देश-प्रेम सम्बन्धी रचनाओं को पीछे एकत्र ही लेलिया है। अतः उनकी कथाओं और बिखरी रचनाओं पर ही इस समय कुछ कहेंगे।

कथाओं में महाभारत की बहुत सी घटनाओं को कवि ने चुना है और 'मंगल घट' में एक क्रम से सजाया है। ये रचनायें हैं भीष्म-प्रतिज्ञा, द्रौपदी-दुकूल, वरदान (धृतराष्ट्र का द्रौपदी को), उत्तर और बृहन्नला, केशों की कथा, कुन्ती और कर्ण, तथा रण-निमंत्रण। इन रचनाओं ने एक-तिहाई स्थान ले लिया है। ये सभी घटनायें मार्मिक और चिर परिचित हैं। कवि ने अपनी ओर से इन में अधिक हेर फेर नहीं किये हैं। ये वर्णनात्मक ही अधिक हैं। जिन घटनाओं से वह प्रभावित हुआ है उनका हिंदी पाठकों को परिचय देना ही उसका लक्ष्य प्रतीत होता है। एक रचना के शीर्षक में चमत्कार भरने की इच्छा कवि के मन में अवश्य जागरित हुई है। वह है "केशों की कथा"। इस शीर्षक से कोई विशिष्ट भावना नहीं जगती। पर इसमें भगवान कृष्ण के संधि-प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर गमन करते समय द्रौपदी की उस कातर याचना का प्रसंग है जो उसने अपने उन केशों को हाथ में लेकर कृष्ण को दिखाते हुए की थी, जिन्हें दुष्ट दुःशासन ने एक दिन भरी सभा में खींचा था। द्रौपदी की उस वाणी को सुनकर भगवान का हृदय भी दुख उठा था। इन कविताओं के अतिरिक्त महात्माओं और कवियों जैसे व्यास, बुद्ध, तुलसी आदि का कीर्ति-स्तवन है। 'विकट-भट' वीरता और आन की, 'बाजीराव देशपाण्डे' स्वामी-भक्ति की, 'न्यायदर्श' न्याय के समय अपने पराये की चिन्ता न करने की, 'पृथ्वीराज का पत्र' स्वतन्त्रता के मूल्य की, 'नक़ली क़िला' उत्कट देश-प्रेम के कारण प्राणों की आहुति देने की, 'चाण्डाल'

संस्कारों के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की और 'टाइटानिक (जहाज़) की सिंधु-समाधि' विदेशियों के गुणों को भी पहचानने के और उचित प्रशंसा करने की कहानियाँ हैं। 'निन्नानवे का फेर' और 'दस्ताने' में थोड़ा हास्य का भी पुट है, यद्यपि वह उभर नहीं पाया। इन्हें निकालने पर बहुत थोड़ी रचनायें बच जाती हैं जो प्रबन्ध के प्रभाव से मुक्त हों। आगे की कुछ रचनायें प्रतीकों के आधार पर हैं, जैसे क्षार-पारावार, नक्षत्र-निपात, पुष्पांजलि, झंकार, कीट, चयन आदि। ये रचनायें बड़ी मार्मिक हैं। इसका कारण यह है कि इन में से कुछ में गुप्तजी के अंतर का गम्भीर शोक भी घुला हुआ है जो उनके प्रिय पुत्र की असामयिक मृत्यु के निर्दय आघात से उत्पन्न हुआ। 'स्वर्गीय संगीत' शीर्षक से जो चार रचनायें गुप्तजी ने दी हैं वे मनुष्य में उद्यम, साहस, स्वावलंब, त्याग, सहानुभूति, सदाचार, मानवता आदि के गुणों को जगाती हैं। 'संलाप' शीर्षक की विचार-प्रधान प्रश्नोत्तरियाँ भी द्रष्टव्य हैं। उन में पूरी वाग्विदग्धता भरी हुई है—

१. कहा व्योम ने—"भूमि! पड़ी नीचे तू मरती"
"किन्तु शून्य तो नहीं"—व्योम से बोली धरती।

२. कहा बाण ने—"काम दूर तक मैं ही दूँगा"
बोला चाप—"परन्तु सहायक जब मैं हूँगा"
प्रत्यंचा ने कहा—"कहो सब अपनी अपनी"
कर बोला—"है मुझे मौन माला ही जपनी"

—मंगल घट

झंकार

"झंकार" गुप्तजी की आध्यात्मिक रचनाओं का संग्रह है। यह संग्रह 'मंगल घट' से अधिक सरस है। इस सरसता का कारण है इन रचनाओं का व्यक्तिप्रधान होना। इन रचनाओं को लिखते समय वे अपने मानस में डूब गये हैं इसी से ऐसे अमूल्य मुक्ता खोज लाये हैं। झंकार के उपास्य के सम्बन्ध में यह बात समझ लेनी चाहिये कि वह निराकार होते हुए भी भक्ति का साकार आलंबन है, अर्थात् यह व्यापक ईश्वर राम है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि अवतारी राम को गुप्त जी ने निराकार रूप में देखा है।

(अ) निर्बल का बल राम है।

राम वही कि पतित-पावन जो परम दया का धाम है
तन-बल, मन-बल और किसी को धन-बल से विश्राम है
हमें जानकी-जीवन का बल निशिदिन आठों याम है।

(आ) वह बाल — बोध था मेरा
निराकार निर्लेप भाव में
भान हुआ जब तेरा।
पहले एक अजन्मा जाना
फिर बहु रूपों में पहचाना
वे अवतार चरित नव नाना
चित्त हुआ चिर चेरा ;

निर्गुण, तू तो निखिल गुणों का
निकला बास — बसेरा ।
वह बाल – बोध था मेरा ।

(इ) रमा है सब में राम ।

'झंकार' में ईश्वर और जीव के विविध सम्बन्धों का वर्णन है। ईश्वर कण-कण में व्याप्त है, परम सुन्दर है, महादानी है, अनन्त करुणा से भरा है। जीव उसका दास है, विकारों से परिपूर्ण है, उस से बिछुड़ कर उसकी खोज में व्याकुल घूमता है और उसे न पाने पर भटकता हुआ माया के जाल में पड़ जाता है तथा उसकी शृङ्खला में बद्ध आवागमन से मुक्त नहीं हो पाता। जीव आया उसी की इच्छा से है। आँख-मिचौनी के खेल में उस के साथ परमात्मा ने छल किया और वह सदैव को छिप गया। आँख खुली तो यह सृष्टिरूपी इन्द्रजाल दिखाई दिया। इस में फँसाने का उसका क्या तात्पर्य है, यह वही जाने, पर यदि यही निष्ठुरता उसकी पूर्णता है तो शिरोधार्य है।

झंकार में कवि ने वैसे शरीर, जीव, बन्धन, संतोष, सुख, दुःख, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि पर विचार किया है; पर उस में खोज, प्रतीक्षा और प्राप्ति सम्बन्धी रचनायें अधिक हैं। दुर्भाग्य की बात है कि मनुष्य उसे सभी स्थलों में खोजता है परन्तु अपने अन्तर में कभी नहीं झाँकता, सीमित दृष्टि से ढूँढ़ता है, व्यापकता को नहीं अपनाता। प्रतीक्षा की रचनाओं में गहरी आकुलता है। उसके लिये सारी सृष्टि

आकुल है। चातक भी उसी घनश्याम के लिये चोंच खोले खड़ा है, सीपी भी उसी की आशा में पलक पसारे बैठी है और मनुष्य भी उसी के आसरे अपने खाली घड़े को भरने की प्रतीक्षा में है।

प्रारम्भ में कवि ने उपासक को पुल्लिंग में पुकारा है पर आगे आत्मा को स्त्री का रूप दे दिया है। प्राप्ति में ही जीव के प्रयत्न को तो सराहा है, पर उस प्राप्ति में भगवान की करुणा को ही मुख्य रखा है। ईश्वर की प्राप्ति बाहर और भीतर दोनों दिशाओं में कवि ने बतलाई है। वैभव की चमक में ईश्वर कभी प्राप्त नहीं होसकता। वह दीनों के रुदन, भिक्षुओं की याचना और रोगियों की सेवा में छिपा बैठा है। जहाँ अन्तर का सम्बन्ध है वहाँ जब तक मनुष्य अपनी शक्ति का भरोसा रखता है तब तक वह हाथ नहीं आता पर ज्यों ही वह हार स्वीकार कर लेता है, थक जाता है या पश्चात्ताप करने लगता है त्यों ही वह हँस कर प्रकट होजाता है—

(१) प्रभो तुम्हें हम कब पाते हैं?
जब इस जनाकीर्ण जगती में
एकाकी रह जाते हैं।

(२) बीत चुकी है, बेला सारी
किंतु न आई मेरी बारी।
करूँ कुटी की अब तैयारी,
वहीं बैठ गुन गाऊँ मैं।

तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किस में होकर आऊँ मैं ।
कुटी खोल भीतर जाता हूँ,
तो वैसा ही रह जाता हूँ ।
तुझ को यह कहते पाता हूँ—
अतिथि कहो क्या लाऊँ मैं।
तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किस में होकर आऊँ मै ।

प्रबन्ध-काव्य

काव्य दो प्रकार का होता है– दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। श्रव्य काव्य के भी दो विभाग हैं–मुक्तक और प्रबन्ध। गुप्तजी की फुटकल रचनायें 'झंकार' और 'मंगलघट' में संग्रहीत हैं, पर उनकी वास्तविक काव्य-क्षमता प्रकट हुई है उनके प्रबन्ध काव्यों में। मुक्तक का लिखना जितना सरल है उतना प्रबन्ध का नहीं। मुक्तक प्रायः स्वानुभूति पर निर्भर करते हैं अतः अपने हृदय की बात को रूप देने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती, पर प्रबन्ध में दूसरों की गाथा सामान्यतः गाई जाती है। यह काम थोड़ा कठिन पड़ता है। दूसरों के सुख दुख से तादात्म्य स्थापित करना सहज नही है। गुप्तजी की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि जिस कथानक को वे लेते हैं उसकी भावधारा में पूर्ण रूप से डूब जाते हैं। यद्यपि कथानकों को वे गढ़ते नहीं: पुराण, महाभारत या रामायण से ले लेते हैं, परन्तु उन्हें प्रस्तुत करने का ढङ्ग इतना सजीव होता है कि वे मौलिक से प्रतीत होते हैं:—

जयद्रथ-वध

जयद्रथ-वध मैथिली शरण जी के खंड काव्यों में वह प्रथम

विशिष्ट रचना है जिसने उनकी काव्य शक्ति को हिन्दी प्रेमियों के सामने प्रचुर परिमाण में प्रदर्शित किया है। जयद्रथ-वध प्रथम बार संवत् १९६७ में प्रकाशित हुआ। इसके पहले संवत् १९६६ में वे 'रंग में भंग' लिख चुके थे। पर आज (संवत् २०००) तक उनके छोटे ग्रन्थों में पंचवटी को छोड़ इतनी ख्याति और लोक-प्रियता किसी पुस्तक को नहीं मिली। जयद्रथ-वध के २६ संस्करण हो चुके हैं। यह सौभाग्य अन्य आधुनिक हिन्दी कवियों के ग्रन्थों को तो क्या मैथिली शरण जी के भी किसी अन्य ग्रन्थ को नहीं प्राप्त हुआ है।

जयद्रथ-वध महाभारत के कथानक पर आधारित है, पर उस में गुप्तजी की अपनी रम्य, ओजपूर्ण और करुण कल्पनायें इतनी अधिक संख्या में हैं कि वह आधार नाम-मात्र को रह गया है। जयद्रथ-वध सात सर्गों में समाप्त हुआ है। पहले सर्ग में अभिमन्यु के युद्ध और उसके वध; दूसरे में उत्तरा के शोक; तृतीय में अर्जुन के क्रोध और प्रण; चतुर्थ में अर्जुन द्वारा शिव से पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति; पंचम में कौरव-पाण्डवों के युद्ध, षष्ठ में अर्जुन, भीम, सात्यकी के कृपाचार्य, कर्ण, शल्य, द्रोण, शकुनि, दुःशासन, दुर्योधन आदि से सम्मिलित युद्ध के उपरांत सहसा सूर्यास्त होने पर युद्ध बंद करने और फिर कृष्ण की योगमाया के प्रभाव से दिनकर के घटाओं में से प्रकट होते ही अर्जुन द्वारा जयद्रथ के शीश को काटने, तथा सप्तम में पाण्डवों के आह्लाद-मग्न होने की कथा है।

जयद्रथ-वध में प्रधानता वीर रस की है और करुण उसका सहयोगी होकर आया है। अर्जुन के प्रण में रौद्र और युद्ध के विभिन्न प्रसङ्गों में वीभत्स के भी दर्शन होते हैं।

जयद्रथ-वध में गुप्तजी की सब से बड़ी विशेषता है कथानक के विकास के साथ भावधारा को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करना। अर्जुन की अनुपस्थिति में द्रोणाचार्य के दुर्भेद्य चक्रव्यूह को भेदने के लिये वीर बालक अभिमन्यु प्रस्तुत होता है। उसकी अवस्था को देखते हुए वह साहस सराहनीय है। युद्ध में सप्त-रथियों द्वारा उस की हत्या होती है। पाठकों का हृदय बैठ जाता है। उत्तरा का करुण मुख देखने को जैसे वे प्रस्तुत नहीं हैं। उस के शोक का पारावार नहीं। वह वधू विलाप कर रही है कि सुभद्रा, कृष्णा, और युधिष्ठिर आते हैं और उस शोक को और घनीभूत बनाते हैं। इस शोक के वेग को किसी प्रकार कम करने की आवश्यकता है। ठीक इसी समय व्यास आते हैं और धर्मराज को समझाते हैं। उनका प्रभाव पूरा पूरा पड़ भी नहीं पाता कि कृष्ण के साथ अर्जुन लौटते हैं। उन्हें मार्ग में ही अपशकुन हुए थे। पुत्र की मृत्यु का दुःसंवाद सुनते ही वे 'हा पुत्र' कह कर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। जो शोक दब सा गया था वह फिर उभर आता है। यहाँ कवि यदि व्यास को फिर बोलने का अवसर देता तो कोई कला न रहती। अतः इस बार कृष्ण सान्त्वना प्रदान करते हैं। विवेक शोक का उपाय तो है, पर शोक

इतना तीव्र मनोविकार है कि उसे दबाने के लिये उससे भी बड़े मनोविकार की आवश्यकता होती है। कवि ने इसीलिये तृतीय सर्ग में अर्जुन के हृदय में 'क्रोध' उत्पन्न कराया है। सुभद्रा दुःखी होती है, उसे भी किसी प्रकार भगवान् समझाते हैं। इधर अभिमन्यु के शव का दाह होता है। और क्योंकि उत्तरा माता बनने वाली है अतः सती नहीं हो सकती।

अर्जुन के हृदय में शोक अवस्थित है। उसे प्रकृति के रम्य दृश्यों के दर्शन करा कर कृष्ण कुछ कम कर देते हैं, और शिव से पाशुपत अस्त्र दिला उसे युद्ध-भूमि में ले जाते हैं। जयद्रथ के वध की वीभत्स कल्पना के साथ संध्या तक उस कार्य के पूर्ण करने की प्रतिज्ञा में अर्जुन का मन लीन हो जाता है। युद्ध-भूमि में आज अर्जुन अंध-आवेश में लड़ रहा है। इतने में संध्या हो जाती है और प्रण अधूरा रह जाता है। अर्जुन हक्का-बक्का-सा हो जाता है और एक प्रकार की विवशता और पछतावे की भावना से उस का हृदय भर जाता है। कृष्ण मुस्कराने लगते हैं। घटाओं में से सूर्य की किरणें फूटती हैं और इधर जयद्रथ का भाग्य सूर्यास्त होते-होते सदैव को अस्त हो जाता है। देखने की बात यह है कि चिन्ता, ओज, शोक, सान्त्वना, क्रोध, उद्यम, उत्साह, विजय और प्रसन्नता को एक दूसरे के उपरांत इस कौशल के साथ कवि ने गूँथा है कि पाठक का हृदय विविध भावों की लहरियों के उतार-चढ़ाव में अंत तक रसमग्न रहता है।

दृश्यों को मूर्त रूप देने के लिये गुप्तजी ने उपमा, उदाहरण, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लिया है। प्रयत्न जो प्रकट हो जाय उसका आभास जयद्रथ-वध में नहीं मिलता। केवल एक स्थल ऐसा है जहाँ पर इस सम्बन्ध में कोई थोड़ा संदेह कर सकता है। वह है "उत्तर दिशा से उत्तरा की याद उनकी आ गई"। कोई सोच सकता है कि उत्तरा के स्मरण करने के लिए ही कवि ने पार्थ की दृष्टि पहिले उत्तर दिशा की ओर उठवाई। इसके अतिरिक्त सर्वत्र भाव, भाषा, दृश्य-विधान एवं अलंकार का ऐसा अपूर्व सामञ्जस्य कठिनाई से ही वे अपने अन्य ग्रन्थों में प्रस्तुत कर पाये हैं। उदाहरण लीजिये—

(१) कहती हुई यों उत्तरा के नेत्र जल से भर गये।
हिम के कणों से पूर्ण मानों हो गये पंकज नये।

(२) जिस भाँति हरने पर किसी के प्राण से भी प्रिय मणी।
करके स्फुरित फिर फिर फणा फुंकार भरता है फणी।
करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए।
तब विस्फुरित होते हुए भुजदण्ड यों दर्शित हुए।

(३) हो मुग्ध गृद्ध किसी-किसी के लोचनों को खींचते।
यह देख कर घायल मनुज अपने दृगों को मींचते।

(४) मामा खड़े हैं पास तेरे तू यहीं पर है पड़ा,
निज गुरुजनों के मान का तो ध्यान था तुझको बड़ा।
धात्री सुभद्रा को समझ कर माँ मुझे था मानता,

पर आज तू ऐसा हुआ मानों न था पहचानता।
(५) सुन कर जयद्रथ का कथन हरि को हँसी कुछ आ गई.
गंभीर श्यामल मेघ में विद्युत्छटा सी छा गई।

जयद्रथ-वध में भावों का प्रदर्शन अत्यन्त स्वाभाविक रूप से हुआ है। क्या शोक और क्या उत्साह सभी स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि पात्रों के हृदय में उतर गया है। जयद्रथ-वध में प्रयत्न करने पर भी आँसू रोके नहीं रुकते। भाषा में प्रौढ़ता होते हुए भी वह सभी स्थलों पर भावों के अनुरूप हुई है। शोक का वर्णन करते हुए वर्णों में आर्द्रता और क्रोध तथा उत्साह का वर्णन करते समय ओज अपने आप समा गया है। भाषा के इस अधिकार के साथ दृश्यों को अत्यन्त स्पष्ट रूप में चित्रित करने में कवि सफल हुआ है।

पंचवटी

पुराण, इतिहास और जन-कथाओं में ऐसे चरित्र बिखरे पड़े हैं जो हमारे हृदय को सहज भाव से आकर्षित कर लेते हैं। इतना होने पर भी भिन्न-भिन्न कवि भिन्न भिन्न व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित होते हैं। जायसी पद्मावती के व्यक्तित्व से आकृष्ट हुए, तुलसी राम के, अयोध्यासिंह उपाध्याय राधा के, गुरुभक्तसिंह नूरजहाँ के, श्याम नारायण पांडे महाराणा प्रताप के। इसी प्रकार पंचवटी मैथिली शरण जी के लक्ष्मण के चरित्र के प्रति आकर्षण का परिणाम है।

भगवान् राम में मैथिली शरण जी की आस्था अत्यन्त दृढ़ है। लक्ष्मण का चरित्र उनके चरित्र से गुँथ कर यद्यपि अभिन्न हो गया है, फिर भी उनके चरित्र में बहुत-सी ऐसी बातें थीं जिनके आधार पर एक व्यक्तित्व का निर्माण करके उन्हें पृथक् रूप से देखा जाता। जो गुण लक्ष्मण में हैं वे ही उनके उपास्य राम में भी हैं। पर उपास्य को एक खण्ड-काव्य का विषय बनाना गुप्तजी को अभीष्ट नहीं था। इसी से उन्होंने आगे चल कर 'साकेत' में उन्हें आर्य-सभ्यता के संरक्षक रूप में देखा। राम के व्यक्तित्व की जगमगाहट के सामने मानस में लक्ष्मण खो-से गये हैं। इसी से उनके उज्ज्वल चरित्र को मानस की ही एक संक्षिप्त-सी घटना के आधार पर जनता के सामने गुप्तजी ने बड़ी मार्मिकता से रखा है।

पंचवटी वासना और संयम का संघर्ष है। शूर्पणखा रात्रि के एकांत वातावरण में कैसे आकर्षक रूप में कितने उद्दाम भावों की बाढ़ को लेकर आती है! केवल लक्ष्मण-सा संयमी ही उस बाढ़ को झेल कर अविचलित रह सकता था। एक तर्क के ऊपर दूसरा, दूसरे के ऊपर तीसरा, जिस अकाट्य ढंग से शूर्पणखा ने उपस्थित किया है उनके आगे स्थिर रहना सहज काम नहीं है। शूर्पणखा की पराजय का कारण मैं उसके हृदय की अस्थिरता समझता हूँ। यदि वह अपने मन के मोह को लक्ष्मण तक ही सीमित रखती तो ऐसी उलझनमय स्थिति उत्पन्न होती जिसे सुलझाना कठिन पड़ता। कवि ने भी

उसे मानवी न रख कर राक्षसी ही रखा। राक्षसी इस रूप में कि उसने राक्षसी में मानवी को देखना ही नहीं चाहा। तुलसी ने भी शूर्पणखा से राम और लक्ष्मण दोनों के प्रति प्रेम का प्रस्ताव कराया है। उसी का अनुकरण गुप्तजी ने भी किया। इस दृष्टि से समस्या पहिले ही से सुलझी रखी थी। परिणाम जो होना था वही हुआ। शूर्पणखा का पक्ष दुर्बल हो गया और वह दंडित होकर लौट गई।

पंचवटी में प्राचीन आर्य मर्यादा की रक्षा के साथ इस युग की आधुनिकता बनी हुई है। लक्ष्मण पर-नारी से पहिले संभाषण करना पुरुषों की सुधर्मपरता का छिनना समझते हैं। वे भाभी और भाई का माता-पिता के समान आदर करते हैं। उन के सामने अधिक बोलने में संकोच का अनुभव करते हैं और प्रथम दर्शन पर प्रभात काल में उनके चरणों का स्पर्श करके आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। राम, शूर्पणखा को संबोधन करते समय 'शुभे' शब्द का प्रयोग करते हैं और जब उसकी ओर से विवाह का प्रस्ताव आता है तब भी 'कल्याणी' ही कहते जाते हैं। इस वातावरण में सीता के हास्य-विनोद ने प्राण डाल दिये हैं। कुछ आलोचकों ने सीता के विनोद पर इस धारणा के आधार पर आपत्ति की है कि उस काल में भाभियाँ इस प्रकार के मज़ाक नहीं करती थीं। पर मज़ाक शब्द में जो हल्कापन भरा है वह सीता की वाणी में नहीं है। उनके किसी वाक्य से दिल्लगी नहीं टपकती। एक प्रकार का शिष्ट हास्य ही वहाँ है। सीताजी शूर्पणखा

को बना रही हैं पर वह मूर्खा बहुत देर तक उन्हें नहीं समझ पाती।

(१) बोलीं फिर उस बाला से वे,
सुस्मित पूर्वक वैसे ही,
अजी, खिन्न तुम न हो, हमारे
ये देवर हैं ऐसे ही,
घर में ब्याही बहू छोड कर
यहाँ भाग आये हैं ये,
इस वय में क्या कहूँ, कहाँ का
यह विराग लाये हैं ये !

(२) मुसकाईं मिथिलेश-नन्दिनी
प्रथम देवरानी फिर सौत !
अङ्गीकृत है मुझे, किन्तु तुम,
माँगो कहीं न मेरी मौत !
मुझे नित्य दर्शन भर इनके,
तुम करती रहने देना !
कहते है इस को ही अँगुली
पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना !

इस काव्य की सजीवता का एक मुख्य कारण इसका वातावरण है। कवि ने अपने पात्रों की क्रीड़ा-भूमि प्रकृति रखी है। यहाँ न राम सम्राट् हैं और न सीता सम्राज्ञी। लक्ष्मण फल तोड़ कर लाते हैं।

नदी से जल भरकर लाने का काम कभी कभी सीता भी कर लेती है। नदी किनारे बैठ कर वे मछलियाँ चुगाती हैं। कुटिया पर लौटती हैं तो अपने हाथों से बोई वस्तुओं को खुरपी लेकर स्वयं निराती है। इस में जो सुख उन्हें मिलता होगा वह महलों में परिचारिकाओं से घिरे रहने पर भी नहीं मिल सकता था।

प्रकृति के अनेक रूपों का अत्यन्त सजीव अंकन गुप्तजी ने किया है। उनमें नदी, हरियाली, झरने, चाँदनी रात और पौ फटने के दृश्य प्रमुख है। प्रकृति के इन मनोमुग्धकारी दृश्यों में कवि का हृदय पूर्ण रूप से लीन हो गया है। दूब, वृक्ष के पत्तों. चन्द्रमा, नक्षत्र, ज्योत्स्ना, लहर, ओस-बिन्दु और पवन का वर्णन करते समय उनमें डूब-सा गया है।

सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य प्रकृति से दूर होता जारहा है। उस की वह ललक प्रकृति के प्रति नहीं रही जो उस समय थी जब उसने बड़े बड़े महलों, रेल, तार, जेलखानों का जाल बिछाया नहीं था। पशु-पक्षी सीता जी के चारों ओर उसी प्रकार घिरे रहते थे जैसे बच्चे माँ के चारों ओर। यह जीवन कितना स्पृहणीय है!

पंचवटी में लक्ष्मण का चरित्र ही प्रमुख है। उन में अनेक गुण हैं। उनके हृदय की सब से प्रबल वृत्ति है राम के प्रति दास्य-भाव। वे सेवा और त्याग के प्रतीक हैं। कवि ने उन्हें धीर, निर्भीक, बतलाया है। उनकी वीरता के प्रदर्शन का कोई अवसर पंचवटी में

नहीं आया। हाँ, प्रहरी के रूप में ही उनकी वीरता और निर्भीकता का अनुमान किया जासकता है। लक्ष्मण का दूसरा गुण उनकी चिन्तन-शीलता है। उस एकान्त में माताओं, भाई, भाभी, ऋषि-मुनि, छोटी जाति के लोगों, पशु-पक्षी, शासन-व्यवस्था, सुख-दुःख न जाने कितनी बातों पर सोचते हैं। और सोचते हैं उर्मिला के सम्बन्ध में! परन्तु कितने संयम के साथ! लक्ष्मण प्रकृति के बड़े प्रेमी हैं, पर सब से अधिक हमारा ध्यान आकर्षित करती है उन के चरित्र की उज्ज्वलता। शूर्पणखा के प्रति उन की वह कठोरता भी स्वर्गीय है।

शूर्पणखा के अन्तर की वासना को ही विविध रंगीनियों के साथ कवि ने प्रत्यक्ष किया है। उसका एक-एक शब्द और एक-एक हाव आरम्भ से अंत तक उसी दिशा में चक्कर काट रहा है। शायद ही कोई स्त्री इतनी खुल कर बातें कर सके। परन्तु यह गुप्तजी ही की विशेषता है कि वासना-मूलक इन चर्चाओं के पढ़ने पर भी किसी प्रकार का विकार हृदय में नहीं उत्पन्न होता। कारण यही है कि उनका हृदय स्वयं अत्यन्त उज्ज्वल है। विवश होकर उन्हें यह सब लिखना पड़ा है। उनके स्थान पर यदि कोई दूसरा व्यक्ति होता तो अपने हृदय की वासना के पुट से इन वर्णनों को चटपटा बना कर उत्तेजक कर देता।

पंचवटी में कला का निखरा हुआ रूप मिलता है। जयद्रथ-वध

में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग कहीं कहीं अधिक मात्रा में होगया है, पर पंचवटी की भाषा खराद पर उतरी हुई सी है। उस में एक प्रकार की मिठास है जो उसकी अपनी है। यहाँ वहाँ मुहावरों के प्रयोग से वह और भी स्वाभाविक होगई है। छंद में विलक्षण प्रवाह है। कथोपकथन तो अत्यन्त सरस हुए हैं। एक ही छंद में प्रश्न और उत्तर सफलता से अङ्कित हैं। केशवदास जी को अपनी रामचन्द्रिका में पात्रों के नाम देने पड़े हैं, पर गुप्तजी को इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। पढ़ते ही पात्र का परिचय मिल जाता है:—

पर किस मन से वरूँ किसी को?
वह तो तुमसे हरा गया!
चोरी का अपराध और भी
लो यह मुझ पर धरा गया।
झूठा? प्रश्न किया प्रमदा ने
और कहा—मेरा मन हाय!
निकल गया है मेरे कर से
होकर विवश विकल निरुपाय!

पञ्चवटी नाटकीय प्रभाव लिये हुए है। चाँदनी रात में लक्ष्मण एक शिला पर बैठे कुछ सोच रहे हैं। इतने में एक रमणी आती है। उससे तर्क वितर्क में प्रभात होजाता है। आवश्यकता है कि इस कथोपकथन का अंत करने या उसकी गति मोड़ने को कोई अन्य

प्राणी उपस्थित हो। सीता जी चट से कुटी का द्वार खोलकर बाहर आती हैं। थोड़ी देर में राम भी सम्मिलित होजाते हैं और तब शूर्पणखा के मन के पलटने से उस रात की घटना का वीभत्स अवसान होता है। शूर्पणखा के चले जाने पर उस छोटी-सी सुखद गृहस्थी में फिर शांति छा जाती है। पुष्प-वर्षा के साथ कवि अपने पात्रों को अंत में विदा करता है। नीचे की पंक्तियों से पुरानी नाटक-कम्पनियों के सुखान्त नाटकों के अंतिम दृश्य की झाँकी आँखों के सामने खिंच जाती है।

तनिक देर ठहरो मैं देखूँ
तुम देवर - भाभी की ओर
शीतल करूँ हृदय यह अपना
पाकर दुर्लभ हर्ष हिलोर
यह कह कर प्रभु ने, दोनों पर
पुलकित होकर सुध - बुध भूल
उन दोनों के ही पौधों के
बरसाये नव विकसित फूल

रंग में भंग

बूँदी के महाराज वरसिंह के छोटे भाई लालसिंह की एक पुत्री थी, जिसका विवाह चित्तौर के सिसोदिया महाराज खेतल से होना निश्चित हुआ। जिन दिनों विवाह की तैयारियाँ होरही थीं

उन्हीं दिनों चित्तौर के भूगर्भ से चार भुजा वाली एक मूर्त्ति निकली। उसका एक हाथ ऊपर को उठा था, दूसरा नीचे झुका था, तीसरा सामने फैला हुआ था और चौथा ग्रीवा प्रदेश पर था। जब यह मूर्त्ति सभा में लायी गयी तब 'बारू जी' नाम के राज-कवि ने एक पद्य सुनाया जिसका तात्पर्य यह था कि प्रतिमा मानों यह कह रही है कि हमारे महाराज-सा दानी स्वर्ग और पाताल में कहीं नहीं है। यदि कोई बतादे तो वह अपना शीश कटाने को प्रस्तुत है। कन्या पक्ष के उन लोगों ने भी जो लग्न लेकर आये थे इस बात को सुना और गेंदोली जाकर बूँदी नरेश से चर्चा की। विवाह तो होगया पर वैवाहिक-कर्म सम्पन्न होते ही लालसिंह ने सभी के सामने 'बारूजी' को अपने राजा की झूठी प्रशंसा करने पर लज्जित किया। कवि ने अपमानित अनुभव कर अपने हाथ से अपना शीश काट डाला। इस पर दोनों ओर तलवारें खिंच गईं और लालसिंह की कन्या विधवा होगई। उस कुमारी ने सती होकर अपने धर्म का पालन किया।

यह सूचना चित्तौर में पहुँची। खेतल के उपरांत उस गद्दी के अधिकारी महाराज 'लाखा' हुए। अभिषेक होते ही उन्होंने प्रण किया कि यदि बूँदी के क़िले को तोड़ने से पहिले मैं अन्न ग्रहण करूँ तो सच्चा क्षत्रिय नहीं। यह प्रण आवेश में हुआ था, अतः मंत्री के सुझाने पर यह निश्चित हुआ कि पहले एक कृत्रिम दुर्ग बनाकर तोड़ दिया जाय और रण के लिए प्रस्थान किया जाय। दुर्भाग्य से जिस

समय 'लाखा' जी इस कृत्रिम दुर्ग को तोड़ने आरहे थे उसी समय 'कुम्भ' नाम का राणा का एक भृत्य जो वास्तव में बूँदी निवासी था आखेट से लौटा। महाराज का यह निंद्य प्रयत्न देखकर उसके शरीर में आग-सी लग गई और देश के मान के लिए वह लड़ता हुआ मारा गया।

'रङ्ग में भङ्ग' नामक यह छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य गुप्तजी की सब से पहिली कृति (सं० १९६६) है। यह राजपूताने की एक ऐतिहासिक घटना है, गुप्तजी की स्वतंत्र उद्भावना नहीं। इस बात को उन्होंने 'विज्ञप्ति' में स्वीकार कर लिया है। इस पुस्तक से कई बातों का पता चलता है। पहिली बात यह कि गुप्तजी की अभिरुचि प्रारम्भ से ही उत्साह और करुणा के प्रसङ्गों को चुनने की ओर थी। दूसरी बात यह कि वे ऐसे ही कथानक पसंद करते हैं जिनका शुभ प्रभाव उनके पाठकों पर पड़े। एक और तीसरी बात का पता इस पुस्तक से चलता है। वह यह कि छंद और भावाभिव्यक्ति पर उनका हाथ प्रारम्भ से ही मँजा हुआ था। इस रचना में कहीं भी तो शिथिलता नहीं। जहाँ तक प्रबन्ध का सम्बन्ध है, वहाँ उसकी धारा अक्षुण्ण है। यद्यपि 'रङ्ग में भङ्ग' में एक कथानक न होकर दो कथानक हैं पर देश-प्रेम और मान पर मर मिटने की उत्तरार्द्ध वाली कथा वाणी के असंयम के दुष्परिणाम वाली पहली गाथा से ही सम्बन्धित है। कवि इस बात को जानता है।

यद्यपि पूरा होचुका यह चरित एक प्रकार से
लाभ कुछ होता नहीं है व्यर्थ के विस्तार से
किन्तु जो घटना घटी है और इस सम्बन्ध में
पूर्णता उसके बिना आती न ठीक निबन्ध में

अपनी इसी सुरुचि और प्रबन्ध-पटुता का परिचय गुप्तजी ने आगे की रचनाओं में बराबर दिया है।

शकुन्तला

शकुन्तला काव्य महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक के आधार पर लिखा गया है। यद्यपि कवि ने स्वतन्त्रता पूर्वक उस नाटक के भावों का उपयोग किया है और कथानक भी वही रखा है, फिर भी यह काव्य उसका अनुवाद नहीं कहा जासकता। नाटक में कवि पृष्ठभूमि में है और इस काव्य को गुप्तजी ने ऐतिहासिक-प्रणाली पर लिखा है। अनुवाद का अर्थ होता है भावों का ही अनुवाद नहीं, वाक्यों और शब्दों का अनुवाद भी। हाँ, यदि कोई इसे भावानुवाद कहना चाहे तो कह सकता है।

कथानक में परिवर्तन नहीं के बराबर है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की समस्त अलौकिक घटनाओं पर कवि का विश्वास है। विदा होते समय वनदेवों का शकुन्तला को वस्त्र प्रदान करना, राजा की अवज्ञा पर विलाप करती शकुन्तला को मेनका का उठा ले जाना, दुर्वासा के शाप से पहले दुष्यन्त को मतिभ्रम होना, परन्तु फिर मुँदरी के मिलने

पर प्रिया की स्मृति का सहसा जग जाना, अदृश्य रूप से मातलि द्वारा माढव्य का गला दबाया जाना, महाराज का स्वर्ग में पहुँचना आदि वृत्तों को सहज भाव से कवि ने स्वीकार कर लिया है।

वर्णनों में छोटे मोटे परिवर्तन गुप्तजी ने किये हैं। जिस बात को कालिदास ने थोड़े विस्तार से स्पष्ट किया है उसे गुप्तजी ने कहीं कहीं संक्षेप में और जिसे उस महाकवि ने संक्षेप में टाल दिया है उसे विस्तृत रूप में हमारे कवि ने दिखाया है। मृगया के समय दुष्यन्त का मित्र माढव्य साथ था और शकुन्तला को लेकर उसने विनोद किया था, पर गुप्तजी ने उसे उस स्थल पर नहीं दिखाया। दुष्यन्त के विरह क्षणों में वह साथ देरहा है। दुर्वासा के शाप के समय शकुन्तला को स्मृति-मग्न कुछ अधिक देर तक मैथिली शरण जी ने किया है। शकुन्तला काव्य छोटे-छोटे दस सर्गों में समाप्त हुआ है। उसमें मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छंदों का प्रयोग है। रस इस में अपनी परिपूर्ण मात्रा में बना हुआ है। जो पाठक संस्कृत के मूल नाटक का आनन्द नहीं ले सकते वे इसे पढ़ कर उस रस का रहस्य जान सकते हैं।

किसान

'किसान' में कल्लू और कुलवन्ती नाम के एक दम्पति का जीवन-चरित्र वर्णित है। इस जीवन चरित्र के तीन अध्याय हैं—एक किसान का जीवन, कुली का जीवन, सैनिक का जीवन।

किसान की स्थिति में भारतीय किसान जिन विषम स्थितियों का आखेट है उन सभी का वर्णन किया गया है। किस प्रकार पुलिस, ज़मीदार, महाजन, अनावृष्टि, महामारी आदि से पिसकर सुख की साँस नहीं ले पाता, वही सब कुछ कल्लू के जीवन में दिखाया गया है। घर छोड़ने पर वह नौकरी के लोभ से एक डिपो में जा फँसता है और वहाँ से कुली बना कर फ़िज़ी भेज दिया जाता है। कुलियों के साथ वहाँ जो नारकीय व्यवहार होता था उसका रोमांचकारी वर्णन कवि ने किया है। वहाँ अपने सतीत्व की रक्षा के लिये कुलवन्ती अपने प्राण दे देती है। फ़िजी में जिस समय कुली प्रथा ज़ोरों पर थी उस समय भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिङ्ग थे। भारत से ऐन्ड्रूज़ और पियर्सन नाम के दो महानुभाव फ़िज़ी के भारतीय किसानों की दशा देखने गये और उनकी रिपोर्ट पर यह कुप्रथा सदैव को बन्द हो गई। कल्लू भी मुक्त होकर देश लौटता है और कृतज्ञता-स्वरूप फ़ौज में भर्ती होकर योरोप के महायुद्ध (सन् १९१४-१८) में लड़ने जाता है। टाइगरिस के तट पर घाव लगने से वह मारा जाता है। यद्यपि वह अपनी वीरता के लिये 'विक्टोरिया क्रॉस' प्राप्त करता है पर मृत्यु को वह नहीं टाल सकता। अन्त में अपने देश के लिये शुभ कामना करता हुआ वह अपनी इहलोक की लीला समाप्त करता है। किसान एक भारतीय किसान की देश-प्रेम और राजभक्ति से भरी दुःख की गाथा है जिसे पढ़कर बड़ी पीड़ा उत्पन्न होती है।

बक-संहार

दुर्योधन द्वारा निर्मित लाक्षा-भवन के अग्नि-काण्ड से किसी प्रकार बचकर पाण्डव एकचक्रा नगरी में पहुँचे और एक ब्राह्मण के अतिथि हुए। उस नगर में 'बक' नाम का एक दैत्य आ बसा था जिसके आहार के लिए प्रति-दिवस नगर का एक प्राणी राजाज्ञा से भेजा जाता था। एक दिन ब्राह्मण परिवार की भी बारी आई। घर में क्षण-भर को शोक छा गया, पर तुरन्त ही एक नवीन समस्या खड़ी हुई। ब्राह्मण कहता था मैं जाऊँगा, ब्राह्मणी कहती थी मैं और उनकी पुत्री उन्हें रोककर स्वयं जाने का हठ करती थी। इस विवाद को कुन्ती ने सुना और कलेजे पर पत्थर रखकर भीम को भेजा। भीम बक का संहार करके सकुशल लौट आये।

बक संहार नीति और धर्म का एक सुन्दर उपाख्यान है। इस ग्रन्थ में कवि ने आतिथेय और अतिथि-धर्म के पालन के साथ ही नीति के अनेक अनुकरणीय और स्पृहणीय वचनों को स्थान दिया है। राजनीति पर तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कवि ने अपने विचार प्रकट किए हैं जो कुशासन अथवा अव्यवस्थित शासन पर अत्यन्त तीखे कटु व्यङ्ग हैं।

वन-वैभव

एक बार पाण्डव अज्ञातवास में थे तब दुर्योधन मृगया के बहाने उन्हें चिढ़ाने गया। वन में एक सरोवर था जो गंधर्व जाति

के अधिकार में था। दुर्योधन अपनी प्रियाओं को लेकर वहीं जल-विहार करने को उद्यत हुआ। इस पर गन्धर्वों के अधिपति चित्ररथ ने थोड़े से युद्ध के पश्चात सम्मोहनशर निक्षेप करके दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि को विमानों से बाँध दिया। यह सूचना जब युधिष्ठिर के पास पहुँची तब भीम और कृष्णा के विरोध करने पर भी उन्होंने कौरवों की मुक्ति के लिए अर्जुन को भेजा। कहने की आवश्यकता नहीं कि पार्थ ने दुर्योधन का उद्धार किया।

वन-वैभव एक महत्वपूर्ण राजनीतिक दृष्टिकोण उपस्थित करता है। यदि दुर्भाग्य से भाई भाइयों में शत्रु-भाव स्थिर होजाये तब भी बाहर वालों के लिए अपने व्यक्तिगत वैमनस्य को भूलकर उन्हें एक होजाना चाहिए। यही ध्वनि इस कथानक से निकलती है। हमारे देश में हिन्दू मुसलमान यदि इस नीति से काम लें तब स्वतन्त्रता को वे जितनी दूर समझते हैं उतनी दूर न रह जाय।

सैरन्ध्री

सैरन्ध्री का कथानक पाण्डवों के अज्ञातवास की उस घटना से सम्बन्ध रखता है जब वे विराट् के यहाँ वेश बदल कर रह रहे थे। वहीं विराट् का साला कीचक कृष्णा पर आसक्त हुआ और उसके विरोध करने पर उसने एक दिन उसका हाथ पकड़ लिया। जब द्रौपदी महाराज विराट् से सभा में न्याय माँगने गई तब कीचक ने वहीं उसे एक लात मार कर मूर्छित कर दिया। निशा की नि-

स्तब्धता में भीम से भेंट हुई और कुछ मंत्रणा करके वह लौट आई। दूसरे दिन कीचक को बडी प्रसन्नता से कृष्णा ने अपने कक्ष में बुलाया। वहाँ कीचक को उस कोमलांगी के स्थान पर वृकोदर मिले, जिन्होंने उसका गला घोंट कर उस दुष्ट को सदैव के लिये इस संसार से विदा कर दिया।

'सैरंध्री' वासना और अत्याचार के सामने शील और पातिव्रत धर्म की विजय घोषित करने के लिये लिखी गई है और कवि निश्चित रूप से इष्ट प्रभाव डालने में समर्थ हुआ है। पुस्तक को पढ़ कर कीचक के प्रति घृणा और कृष्णा के चरित्र के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है।

सिद्धराज

सिद्धराज एक ऐतिहासिक प्रबन्ध-काव्य है। बारहवीं शताब्दी में सोलंकी राजा कर्णदेव और सीतलदे के संयोग से जयसिंह का जन्म हुआ। इन्हीं जयसिंह को सिद्धराज कहते हैं। इस काव्य ग्रन्थ में जयसिंह की जीवन गाथा वर्णित है।

कवि ने सिद्धराज की वीरता पर अधिक प्रकाश डाला है। जय जैसे जयसिंह के पीछे-पीछे हाथ बाँधे घूमती है। जयसिंह की अनुपस्थिति में मालव पति नरवर्मा ने पाटन पर आक्रमण किया था। जयसिह ने उसका बदला लेने के लिये मालव पर चढ़ाई की। नर-

वर्मा मारा गया। उसका पुत्र यशोवर्मा जगद् देव के साथ सामना करने आया तो वे दोनों बन्दी बना लिये गये। अन्त में जयसिंह ने यशोवर्मा को उसका राज्य लौटा दिया। रानकदे के ऊपर जो नवघन के पौत्र खङ्गार को ब्याही गई जयसिंह ने खंगार को ललकारा। खङ्गार मारा गया और साथ ही उसके दो पुत्र भी। इसी प्रकार शाकम्भरी भूप अर्णोराज भी बन्दी बनाया गया। इसी अर्णोराज को जयसिंह ने अपनी पुत्री कांचनदे भेंट की।

सिद्धराज का नायक जयसिंह ही है, पर उसकी जीवन-गाथा से भी अधिक आकर्षक है रानकदे-खङ्गार और कांचनदे-अर्णोराज की प्रेम-गाथाएँ। सिद्धराज का आकर्षण रानकदे के प्रति दिखाया गया है, पर उसमें कोई सौन्दर्य नहीं है। रानकदे के पति की मृत्यु पर जयसिंह उसका हाथ पकड़ लेता है जिस पर उसका मित्र जगतदेव तक बिगड़ पड़ता है। यह कर्म वास्तव में निंद्य है।

इस प्रबन्ध-काव्य में जयसिंह की धार्मिक उदारता भी वर्णित है। सिद्धराज हिन्दू, पारसी, जैन, मुसलमान सब से एक-सा बर्ताव करता था।

सिद्धराज अत्यन्त प्रौढ़ और सरस शैली में लिखा गया है। फिर भी पता नहीं जितनी ख्याति उसे मिलनी चाहिये थी उतनी क्यों नहीं मिली? होसकता है कि इसके शीर्षक से पाठक इसे कोई धार्मिक ग्रन्थ समझ कर इसके पृष्ठ खोलने का कष्ट न करते हों।

नहुष

नहुष में गुप्तजी ने महाराज नहुष की इन्द्रासन प्राप्ति और इन्द्राणी के प्रति कामासक्ति के कारण 'स्वर्ग भ्रष्ट' होने की गाथा को एक नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। कथा तो जैसी प्रचलित है उसी रूप में उसे उन्होंने कई शीर्षक देकर अपनाया है, पर इस काव्य मे कथा की प्रधानता उतनी नहीं है जितनी विचारों की। मनुष्य अपने कर्म से ही ऊँचा उठता है और अपने कर्म से ही गिर जाता है। परन्तु इस नियम में एक साहस-स्वर गुप्तजी ने भरा है। नहुष का जिस समय पतन होता है उस समय क्षण भर को तो वह उदास होता है परन्तु दूसरे ही क्षण उसकी साहस-वाणी सुनाई देती है—

मानता हूँ और सब हार नहीं मानता,
अपनी अगति नहीं, आज भी मैं जानता।
आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी।
चलना मुझे है बस अन्त तक चलना,
गिरना ही मुख्य नहीं मुख्य है सँभलना।
फिर भी उठूँगा और बढ़ के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़ के रहूँगा मैं।

विकट भट

विकट-भट का कथानक वैसे एक प्रकार से 'मंगल घट' में

मुद्रित हो चुका है; पर कवि ने उसे पृथक पुस्तकाकार भी प्रकाशित कराया है। जोधपुर के मदिरासेवी महाराज विजयसिंह एक दिन पोकरण के सरदार देवीसिंह से बातों-बातों में पूछते हैं कि यदि सरदार उन से रूठ जायँ तो वे क्या करें? देवीसिंह चिढ़ कर उत्तर देते हैं कि वे मारवाड़ को ही उलट दें। दूसरे दिन पालकी से उतरते ही एक आदमी सरदार का खड्ग लेकर भाग जाता है। देवीसिंह क्रुद्ध होते हैं और अन्त में मृत्यु की गोद में सो जाते हैं। विजयसिंह पोकरण पर आक्रमण करते हैं और देवीसिंह के वीर पुत्र सबलसिंह को भी मौत के घाट उतारते हैं। पर यह लोग क्षत्रिय थे, अतः सबलसिंह का पुत्र और देवीसिंह का पौत्र सवाईसिंह दरबार में महाराज से मिलने जाता है। महाराज अपने दुष्कर्म पर पश्चात्ताप प्रकट करते हैं और यह कहते हुए कि उन्हें सवाईसिंह में सबलसिंह और देवीसिंह दोनों मिले उनका आदर करते हैं। विकट भट आन पर मरने वाले क्षत्रियों की अमिट यश-गाथा है। भाषा में विलक्षण ओज है।

(आ) साकेत (महाकाव्य)

महाकाव्य—पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि गुप्तजी ने एक दर्जन से ऊपर प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत किये हैं। यह प्रबन्ध-काव्य छोटे छोटे खंड-काव्य हैं, पर उनकी प्रतिभा ने हमें एक महाकाव्य भी दिया जो साकेत के नाम से प्रसिद्ध है। साकेत में महाकाव्य के लक्षण पूर्ण रूप से घटित होते हैं।

विविध

काव्य के मुक्तक और प्रबन्ध विभागों के आधार पर मैंने मैथिली शरण जी के काव्य-ग्रन्थों को अब तक किसी न किसी कोटि में रखा है पर उनके कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जो न शुद्ध मुक्तक हैं और न परिपूर्ण प्रबन्ध। ऐसी पुस्तकों की समीक्षा एक पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत करनी उचित होगी। ये पुस्तकें हैं—

(१) पत्रावली
(२) वैतालिक
(३) शक्ति
(४) गुरुकुल
(५) यशोधरा
(६) द्वापर
(७) अर्जन और विसर्जन
(८) काबा और कर्बला
(९) विश्व वेदना
(१०) कुणाल गीत

पत्रावली

पत्रावली में निम्नलिखित सात पद्य - बद्ध पत्र हैं।

(१) कवि पृथ्वीराज का पत्र महाराणा प्रताप के प्रति
(२) महाराणा प्रताप का पत्र पृथ्वीराज के प्रति
(३) शिवाजी का पत्र औरंगज़ेब के प्रति
(४) औरंगज़ेब का पत्र अपने पुत्र के प्रति
(५) महारानी सीसोदनी का पत्र महाराज जसवन्तसिंह के नाम
(६) महारानी अहल्या बाई का पत्र राघोबा के नाम।
(७) रूपवती का पत्र महाराना राजसिंह के नाम।

ये सभी पत्र ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं को लेकर हैं इन में कुछ पत्र दुर्घटनाओं को रोकने के लिये लिखे गये, जैसे पृथ्वी राज का पत्र प्रताप की मर्यादा की रक्षा के लिये, महारानी अहल्या बाई का पत्र अपने राज्य की रक्षा के लिये और रूपवती का पत्र अपन लाज बचाने के लिये। महाराणा प्रताप का पत्र कृतज्ञता और पश्चाता का पत्र है और औरंगज़ेब का संताप और भाग्य-लिपि में विश्वास का शिवाजी और महारानी सीसोदनी के पत्र कर्तव्य की प्रेरणा से लिर गये। इसमें महाराणा प्रताप, औरंगज़ेब और रूपवती के पत्र अधि भाव-पूर्ण हैं, क्योंकि उनके मूल में सीधी एक भावना न होकर क कई भावनायें गुम्फित हैं। हिन्दी में भी पत्रों के अच्छे संग्रह ज

सुरुचिपूर्ण भी हों विरल ही हैं, फिर पद्य में तो कहना ही क्या ! इस दृष्टि से पत्रावली अपना एक महत्त्व रखती है ।

वैतालिक

वैतालिक गुप्तजी का एक लम्बा जागरण-गीत है जो चार चार पंक्तियों के १२५ छंदों में समाप्त हुआ है । प्रभात-काल में जैसे वैतालिक अपने गान से महाराजाओं को जगाते हैं उसी प्रकार से गुप्तजी ने देशवासियों को इस उद्‌बोधन गीत के द्वारा जगाने का निश्चय किया है । प्रभात-काल का पूरा वातावरण इस में विद्यमान है और उषा, हरियाली, ओसबिन्दु, तरंगों, कमल, खग, मधुप, गौ आदि का वर्णन करते-करते कवि कुछ न कुछ उपदेश देता जाता है । प्रकृति-जगत् में उषा-काल और उसकी विविध वस्तुओं को चुनने के साथ ही उसने भौतिक जगत् के प्राणियों में पश्चिम के लोगों को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है । उनके उद्योग, देश-प्रेम, आशावाद की प्रशंसा की है । पर उनका अनुकरण सर्वांश में करना वह उचित नहीं समझता । इसी से वह आर्य सभ्यता की ओर मुड़ता है । पूर्व और पश्चिम के संयोग से वह एक नवीन अनुकरण-योग्य पथ देशवासियों को दिखाता है ।

(क) यहीं तुम्हारी व्याप्ति नहीं,
तनु के साथ समाप्ति नहीं ।
उनको इसका ध्यान नहीं,
जो कुछ है विज्ञान यहीं ।

रम्य रहे इसकी रचना,
पर विलासिता से बचना

× × ×

वहाँ बनावट की रट है,
देखो जहाँ दिखावट है।

× × ×

'मैं' के साथ वहाँ 'तू' है,
'मैं' में भरी यहाँ 'भू' है।

(ख) उनका सा दृढ़ पक्ष रहे
पर अपना ही लक्ष रहे

× × ×

उनकी ऐसी कृति रखो,
अपनी किन्तु प्रकृति रखो।

शक्ति

'शक्ति' देवी का कीर्ति-स्तवन है। एक बार असुरों के अत्याचार से पीड़ित समस्त देवता अपनी दुःख-गाथा भगवान विष्णु को सुनाते हैं। हरि के शरीर से एक उज्ज्वल तेज बहिर्गत होता है और साथ ही ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि सुरों के शरीर से भी ज्योति-पुञ्ज निकलकर पुञ्जीभूत होजाते हैं। इस सम्मिलित तेज से देवी का प्रादुर्भाव होता है। यह देवी चिक्षुर, चामर, उद्धत, कराल, वास्कल,

उग्र, उद्रग आदि दानवों का संहार करती है। पर इन सबसे भी अधिक भयङ्कर महिषासुर हैं जिसके पौरुष और माया का वर्णन कवि ने कुछ विस्तार से किया है। महिषासुर के वध से ही दैत्य निर्बीज नहीं होजाते उनके दो नायक शुम्भ-निशुम्भ नवीन बल पाकर दिग्विजय करते हैं। इन्हीं दैत्य अधिपतियों के दो दूत चण्ड और मुण्ड देवी के रूप को देखकर मुग्ध होजाते हैं और उनके आगे अपने स्वामियों के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखते हैं। देवी हँसकर उत्तर देती है कि जो उन्हें युद्ध में जीतेगा वही उन्हें वर सकेगा। अन्त में शुम्भ और निशुम्भ भी मृत्यु का आलिंगन करते हैं। देवताओं का जीवन सुखमय होता है और शक्ति की प्रार्थना के साथ यह काव्य समाप्त किया जाता है।

'शक्ति' में एक क्षीण-सी कथा-धारा है। पर उसे प्रबन्ध का रूप नहीं मिला। उसमें प्रतिनायक एक नहीं है। एक क्षण महिषासुर प्रमुखता धारण करता है; दूसरे क्षण शुम्भ निशुम्भ। इसी से इस काव्य की गणना खण्ड काव्यों के अन्तर्गत मैंने नहीं की। यह एक प्रकार का महात्म्य-वर्णन ही है।

गुरुकुल

'गुरुकुल' में सिक्ख गुरुओं की प्रशस्तियाँ हैं। इसे लिखते समय कवि का आदर्श रघुवंश रहा है। पर 'रघुवंश' महाकाव्य है और गुरुकुल सिक्ख गुरुओं की जीवनी का काव्यबद्ध सङ्कलन मात्र। कवि

ने इस बात को स्वयं स्वीकार कर लिया है—"लिखने का निश्चय होने के साथ ही पुस्तक के नाम-करण की बात याद आई। सहसा "रघुवंश" की ओर लेखक का ध्यान गया। सोचा कि उसी के अनुकरण पर "गुरुवंश" नाम देकर लिखना आरम्भ कर दिया जाय। परन्तु केवल नाम रखने ही से क्या होगा? वैसी कथा-वस्तु और वर्णना भी तो होनी चाहिये?" गुप्तजी की इस परख-विनम्रता और निरभिमानता को हम आदर की दृष्टि से देखते हैं।

गुरुकुल में गुरु नानक, गुरु अङ्गद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुन, गुरु हरगोविन्द, गुरु हरिराय, गुरु हरिकृष्ण, गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह के साथ ही बंदा वैरागी के दुर्दमनीय साहस का भी वर्णन है। परिशिष्ट में हकीकतराय, मतिसिंह और रणजीतसिंह को भी स्मरण किया गया है। और भी आगे बढ़कर 'परम्परा' शीर्षक से सिक्खों की आजतक की स्थिति का दिग्दर्शन करा दिया है।

गुरु नानक बाबर के, गुरु अङ्गद हुमायूँ के, गुरु अमरदास और रामदास अकबर के तथा गुरु अर्जुन देव और गुरु हरगोविन्द सिंह जहाँगीर के समकालीन थे। अकबर के समय तक गुरु लोग अधिकतर धार्मिक और सामाजिक उन्नति की ओर ध्यान देते रहे; पर जहाँगीर के शासन-काल में वे राजनीति के क्षेत्र में भी विशेष भाग लेने लगे। गुरु हरगोविन्द का तो सन् १६८५ ई० में लाहौरी नाज़िम से युद्ध भी हुआ। औरङ्गज़ेब के शासन समय में

सिक्ख लोग एक धर्म-प्राण और युद्ध-प्रिय वीर सिद्ध हुए। औरङ्गज़ेब को चार-चार सिक्ख गुरुओं का सामना करना पड़ा जिससे उसका नाक में दम आगया।

गुरुकुल मे सिक्ख गुरुओं के त्याग, साहस और आत्म-बलिदान की गाथायें हैं। कवि ने गुरु गोविन्द का वर्णन विस्तार के साथ किया है क्योंकि सिक्खों के सङ्गठन में उनका कार्य सब से अधिक महत्व का है। ज़ोरावरसिंह और फ़तहसिंह गुरुगोविन्द के ही बच्चे थे जिन्हें सरहिंदी सूबा वज़ीरख़ाँ ने ज़िन्दा दीवालों में चिनवा दिया था।

कवि की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि उसने हिन्दू होकर और यह जानते हुए कि मुसलमानों ने उसकी जाति के साथ बड़े-बड़े लोमहर्षक अत्याचार किये कहीं भी इस प्रकार के अधिक तीखे वर्णन नहीं किये जिससे हिन्दू मुसलमानों में कटुता उत्पन्न हो। यों दुष्कर्म के लिये अपने पात्रों के मुख से विरोधियों के प्रति क्षोभ का प्रदर्शन कराया है और उतना क्षोभ आवश्यक है। उर्दू वाले जिसे तास्सुब कहते हैं और हमारे यहाँ धर्मान्धता कहा जायगा वैसी बात गुप्तजी में नहीं है। गुरु गोविन्दजी ने एक स्थल पर स्पष्ट कहा है—

यवनों का हिन्दू विरोध ही
मुझे किए है यवन विरुद्ध,
और नहीं तो मनुज मात्र में
रखता हूँ मैं समता शुद्ध।

पर कवि तो और आगे बढ़कर अपनी सद्भावना का निर्वाह कर गया है।

"हिन्दू मुसलमान दोनों अब
छोड़ें वह विग्रह की नीति।"

यशोधरा

यशोधरा में गुप्तजी ने एक स्त्री-पात्र का निर्माण किया है। साकेत में उर्मिला के चरित्र में तो कोई विशेषता नहीं है, पर कैकेयी का चरित्र उनका अपना निर्मित है। स्वाभिमान और वात्सल्य के ताने-बाने से कैकेयी बनी है। गोपा में आत्माभिमान प्रमुख है, यद्यपि गौतम के प्रति प्रेम भी अटूट और अगाध है। उसे इस बात का दुःख बराबर बना रहा कि उसके पति उससे बिना कुछ कहे सुने चोरों की भाँति चुपके से खिसक गये। इससे गोपा अपने को अपमानित समझती है। क्या वह उन्हें न जाने देती? — यही प्रश्न जैसे बार बार उसके मस्तिष्क में घुमड़ता रहता है। और गौतम के लौटने तक यह बात उसके कलेजे में कसकती रहती है। यही कारण है कि जब सब अमिताभ का स्वागत करने जाते हैं वह नहीं जाती, भगवान को ही उसके निकट आना पड़ता है।

पर दूसरों को गौतम की निष्ठुरता की बुराई करते भी वह नहीं देख पाती। गौतमी के निर्दयी कहते ही वह उसे टोकती है। स्वयं अत्यन्त

दुखी रहने पर भी कुटुम्बियों के सामने वह धैर्य और उत्साह का ही प्रदर्शन करती है। शुद्धोदन जब बहुत विह्वल होते हैं तब वह स्वयं अधीर रहने पर भी उन्हें समझाती है। राहुल जब विलक्षण प्रश्न करने लगता है, तब उसके धैर्य का बाँध कभी कभी टूटने लगता है, पर अन्तर की वास्तविक पीड़ा को छिपाने के लिये वह इधर उधर की बातें करने लगती है।

राहुल को अपने ढंग से उसने पाला है। यशोधरा-राहुल के कथोपकथन इस काव्य के प्राण हैं। भेंट होने पर वह अपने पुत्र को तथागत के धर्म का अनुयायी होने के लिये उन्हें सौंप देती है। इससे बड़ा त्याग और वह क्या कर सकती थी?

यशोधरा के प्रारम्भ में गौतम के हृदय की हलचल दिखाने के उपरान्त क्रम से यशोधरा, महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन, छन्दक आदि के भाव, सिद्धार्थ के प्रति प्रदर्शित किये गये हैं। आगे जहाँ यशोधरा गौतम का चिन्तन करती है वहाँ यशोधरा शीर्षक से और जहाँ राहुल को भी लेकर कवि चलता है वहाँ राहुल-जननी नाम देकर कवि कथानक को बढ़ाता है। इस काव्य में एक नाटक भी सम्मिलित है जो गद्य में है। यशोधरा के गीत भी अत्यन्त मार्मिक हैं।

द्वापर

द्वापर में कृष्ण से सम्बन्धित व्यक्तियों के भाव भिन्न भिन्न शीर्षकों

में व्यक्त कराकर एक पुस्तक के रूप में गुंफित कर दिये गये हैं। एक शीर्षक का दूसरे शीर्षक से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी से द्वापर को प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। कवि ने निम्नलिखित प्राणियों के हृदय की अभिव्यक्ति विशेष अन्तर्वृत्तियों के आधार पर की है—

श्रीकृष्ण	ईश्वरत्व की भावना
राधा	प्रेम और समर्पण
यशोदा	वात्सल्य
विधृता	नारी - स्वातन्त्र्य की भावना
बलराम	रूढ़ियों का विरोधी
ग्वाल-बाल	कृष्ण-प्रेम
नारद	लोक-कल्याण के लिये संघर्ष के पक्षपाती
देवकी	कंस के प्रति रोष
उग्रसेन	बंदी होने पर भी पुत्र-प्रेम
कंस	अहं का उपासक, शक्ति का दुरुपयोग करने वाला, अनीश्वर वादी।
अक्रूर	कृष्ण-भक्त और कंस के प्रति स्वामिभक्ति में द्वन्द्व
नन्द	कृष्ण के बिना मथुरा से लौट आने पर पश्चात्ताप-मग्न
कुब्जा	कृष्ण के प्रति आकर्षण
उद्धव	यशोदा को सान्त्वना प्रदान करने वाला और

गोपियों के प्रेम का प्रशंसक।

गोपी — स्मृति संचारी के रूप में राधा तथा अन्य गोपियों की व्यथा कहने वाली।

द्वापर में अनेक मार्मिक भावों की व्यंजना हुई है। उदाहरण के लिये—

(१) यह वृन्दावन, यह वंशीवट
यह यमुना का तीर हरे!
यह तरते ताराम्बर वाला
नीला निर्मल नीर हरे!
यह शशि-रंजित-सित-घन-व्यंजित
परिचित त्रिविध समीर हरे!
बस, यह तेरा अंक और यह
मेरा रंक शरीर हरे!

—राधा

(२) भय क्या सुरा पिये हो कोई
उसे सुरा न पिये हो।
तो शुभ वह उस असुरापी से
जो निज दम्भ किये हो।

—बलराम

(३) होती हाय! आज कुब्जा ही
यदि राधा की दूती;

जाकर शरण इसी मिस तो वे
अरुण चरण तो छूती।

—कुब्जा

अर्जन और विसर्जन

अर्जन—अजन मूल में एक पद्य कहानी है जिसमें नाटक और प्रबन्ध के तत्व मिले हुए हैं। विक्रम की सातवीं शताब्दी में सीरियन लोगों का अरबों से युद्ध हुआ। उस युद्ध में जोनस नाम का एक सीरियन युवक था जो इउडोसिया नाम की एक युवती से प्रेम करता था। जोनस कायर था। अरब सेनापति ख़ालिद ने जब उसे बंदी बनाया तब मृत्यु-भय से उसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। जोनस ने इउडोसिया को समझाया पर उसने स्वतन्त्रता के लिए प्राण देना श्रेयस्कर समझा। टमास के पुत्र-जन्मोत्सव की प्रसन्नता में दमिश्क वाले प्रसन्न थे। इसी बीच ख़ालिद ने आक्रमण किया और लूट-मार मचा दी। अरबों के प्रधान सेना-नायक अबूउबैदा ने आज्ञा प्रचारित की कि तीन दिन के भीतर जिसे मुस्लिम राज्य में न रहना हो वह निकल जाय। इउडोसिया ने अपना घर छोड़ दिया, पर जोनस तो वासना से अन्धा था। उसे प्राप्त करने के लिए उसने ख़ालिद से उसे दिखाया। इउडोसिया ने कोई उपाय न देख छुरी कलेजे में भोंक ली और उस शरीर को जिसका जोनस भूखा था उसकी गोद में डाल दिया।

जोनस को दृष्टि में रखते हुए उसका अर्जन (इउडोमिया की प्राप्ति) एक व्यंग मात्र है। जो आत्मा को प्राप्त करना नहीं जानता, वह शव को प्राप्त करता है।

विसर्जन—अरबों ने उत्तरी अफ़रीका की मूर महिषी काहिना पर आक्रमण किया। इस युद्ध में अरब लोग पराजित हुए। मूर जाति जब विजयोत्सव मनाने लगी तब महारानी ने उसमें योग न दिया। इस पर सभी को आश्चर्य हुआ। महारानी ने समझाया कि वे भविष्य की चिन्ता से चिन्तित हैं। जो बर्बर अरब अपमानित होकर हार गए है वे क्या शान्त बैठे रहेंगे? अच्छा यह हो कि स्वतन्त्रता के लिए प्रासादों को ढाकर मरु-भूमि बना दो जिस पर किसी को कुछ लोभ न रहे। उनके इच्छानुसार ऐसा ही हुआ। उत्तरी अफ़रीका एक विस्तृत मरुस्थल बन गया पर अपने वैभव का 'विसर्जन' करके भी मूरों ने स्वतन्त्रता का अर्जन किया। यह खोना भी पाना है।

काबा और कर्बला

काबा और कर्बला एक मिश्रित वस्तु है। काबा-अंश मे अनेक स्फुट कविताएँ संग्रहीत है जिनमें विशेष रूप से मुहम्मद साहब के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं और उनके उपदेशों का वर्णन है। आगे चलकर शेरशाह और अकबर की प्रशंसा भी है।

कर्बला में उस करुण घटना का वर्णन है जिसमें शैतान के

प्रतीक यजीद ने इमामहुसेन उनके बच्चो और उनके अनुयायियों को प्यास मे तडपा-तडपा कर मारा था। यह काव्य कवि के अन्तर की उदारता और कोमलता का पूर्ण-रूप से परिचायक है।

विश्व-वेदना

कवि ने विश्व-वेदना को योरोपीय महायुद्ध की प्रेरणा से प्रसूत बतलाया है, परन्तु उसमे केवल युद्ध और उसके दुष्परिणामों की ही चर्चा नहीं है। वह हमारे इस युग की समस्त प्रवृत्तियों का दर्पण है। भौतिक उन्नति के मद मे मनुष्य कैसे मतवाला होकर अपने निर्धन भाई को चूसता चला जा रहा है, धर्म में कैसा खोखलापन रह गला है, जिस विज्ञान से सुख शान्ति की आशा करते थे उसने कितनी अशान्त फैलादी है, यह सब भी कवि की दृष्टि से छिपा नही रहा। विश्व-वेदना विज्ञान के सहारे पूँजीवादी-प्रथा से उत्पन्न यन्त्र-युग की विभीषकाओं का लेखा है। कवि अन्त मे समस्त संसार को एक परिवार में परिवर्तित देखने की कामना करता है।

कुणाल-गीत

कुणाल-गीत प्रबन्ध और मुक्तक के बीच का एक प्रयोग है। प्रबन्ध की अपेक्षा वह मुक्तक की ओर अधिक झुका है। कहानी की एक क्षीण धारा उसमें है। घटनाऐं वर्णित हैं जैसे सीमा प्रान्त के विद्रोह का शान्त होना, सौतेली माँ की आज्ञा से अन्धा होजाना और

अंत में अशोक के दर्शन से दृष्टि की ज्योति का फिर लौट आना। गीत अधिकतर कांचनमाला को संबोधित करके गाये गये हैं। यद्यपि कुणाल की जीवन-यात्रा अत्यन्त पीड़ा से भरी थी, पर गीतों में करुणा से भी अधिक शांत भावना पाई जाती है। कुणाल ने अपनी उस करुण स्थिति में भी सान्त्वना की खोज करली थी। अन्धा होने से वह सब की सहानुभूति का पात्र हो उठा है और दूसरों के दुःख को भी अधिक गहराई से समझता है। वैभव-हीनता में भगवान का ध्यान भी उसे आता है। अन्त में वह अपने पिता के राज्य से विरक्त हो लोक-कल्याण में रत होता है।

अर्पित हो मेरा मनुज-काय,
बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।
छोड़े मैंने सब राज-पाट,
मैं नहीं चाहता ठाट-बाट।
घूमूँ अब घर घर घाट घाट,
दूँ सुगत-गिरा का दिव्य दाय
बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय!

कलाकार

गुप्तजी की कला-कृतियों की विवेचना करते समय हम उनके अभिव्यक्ति पक्ष पर प्रकाश डालते चले आये हैं, पर यहाँ इतना कह देना और भी आवश्यक है कि 'रंग में भंग' (सं० १९६६) से लेकर 'विश्व वेदना' (सं० १९९९) तक एक शताब्दी के एक तिहाई वर्षों में कवि ने जो वाग्देवी की निरन्तर उपासना की है उससे हमारे साहित्य को उसने कहीं से कहीं पहुँचा दिया है। भाषा के परिमार्जन सम्बन्धी मूल्य को वे ही व्यक्ति ठीक प्रकार से आँक सकेंगे जो इस बात का ज्ञान रखते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य-क्षेत्र में पदार्पण करने से पहिले खड़ी बोली में कितनी और किस रूप मे काव्य-निधि हमारे पास थी।

अपने ३१ मौलिक और ६ अनुवाद ग्रन्थों में कवि ने सैंकड़ों छन्दों का प्रयोग किया है। इन छन्दों में मात्रिक और वर्णवृत्त दोनों सम्मिलित हैं। इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रयत्न करने पर भी कोई उनकी पंक्तियों में छंदोभंग नहीं दिखा सकता। अलंकार और मुहावरों का प्रयोग कभी प्रयत्न पूर्वक उन्होंने

नहीं किया, पर उनकी एक पूरी निधि उनके काव्यों में रक्षित है।

गुप्तजी आधुनिक युग के सर्व-श्रेष्ठ कवि हैं और मेरा विश्वास है कि जब कभी भी प्राचीन और अर्वाचीन कवियों को एक पंक्ति में बिठाने का प्रश्न उठेगा उस समय गुप्तजी को तुलसी और सूर के उपरान्त ही स्थान मिलेगा। आधुनिक कवियों में से कुछ तो गीति-काव्य के रचयिता मात्र हैं, कुछ ने गीतों के साथ ही प्रबन्ध-काव्य देने का भी प्रयत्न किया है। पर गुप्तजी का हाथ दोनों पर एक-सा सधा है। अभी कह चुके हैं कि उन्होंने हमें १ दर्जन से ऊपर प्रबन्ध-काव्य दिये हैं। हिन्दी में आजतक एक भी ऐसा साहित्यकार नहीं हुआ जिसने हमें इतने सफल प्रबन्ध-काव्य दिये हों। प्रिय-प्रवास, कामायनी और राम-चन्द्रिका में कथानक की क्षीणता, दुरूहता और प्रबन्ध-भंगता के अपने दोष पाये जाते हैं। पर साकेत इस प्रकार के दोषों से मुक्त है। मेरी दृष्टि में तो रामचरित मानस के उपरान्त ही उसे स्थान मिलना चाहिये।

काव्य के 'शिवं' पक्ष पर विचार करते समय तो मैथिलीशरण जी को अत्यन्त उच्च स्थान देना होगा। उनका एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है जो सद्वृत्तियों को उभारने वाला और दृढ़ करने वाला न हो। देशानुराग और सदाचार का यह पुजारी कहीं भी अपनी समता नहीं रखता। केवल एक ही नाम है जिसका स्मरण उसके नाम के साथ हो आता है। वह है गोस्वामी तुलसीदास जी का। पर तुलसी का

नाम ऐसा है कि उसे सभी कवियों के सम्बन्ध में लेना पड़ता है।

मैथिलीशरण गुप्त ने पिछले ३३ वर्षों में उत्तम काव्य का निरन्तर दान दिया है। उन्होंने हमें अनुवाद दिये, मौलिक ग्रन्थ दिये। दृश्य-काव्य दिये, श्रव्य-काव्य दिये। श्रव्य-काव्यों में गीति-काव्य दिये, प्रबन्ध दिये। प्रबन्धों में खण्ड-काव्य दिये, महाकाव्य दिया। उन्होंने छन्दों में गाया, अन्त्यानुप्रासहीन पंक्तियों में गुनगुनाया। उन्होंने हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख मुसलमान सभी का हृदय पहचाना। ऐसा पूर्ण साहित्यकार अन्यत्र कहाँ मिलेगा? उनकी यह देन युग-युग तक बनी रहेगी।